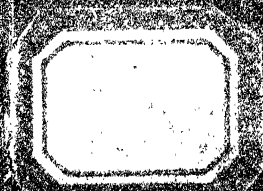
श्रीमद्भगवद्गीता

लेखक

बाल गंगाधर तिलक.



रा. बाळ गंगाधर टिळक.



श्रीमद्भगवद्गीता

मूल संस्कृत श्लोक, और अनुवाद,

(महत्त्व के टिप्पणीयों सहित)

लेखक

बाल गंगाधर तिलक

प्रकाशकः—**रा. ब. तथा श्री. ब. तिलक**

गायकवाड वाडा, पूना

[प्रकाशकों ने सर्वाधिकार स्वाधीन रक्खे हैं ।]

मुद्रकः—अनंत आत्माराम मोरमकर.

श्री लक्ष्मी-नारायण प्रेस, २६४ ठाकुरद्वार, बम्बई.

Price Re [illegible]

प्रथम मुद्रण ।

सन् १९२६

लो. तिलक के अन्य ग्रंथ

अंग्रेजी

आर्टिक होम	मूल्य रु. ५
ओरायन	,, ,, २
वेदांग ज्योतिष	,, ,, ३

गीतारहस्य.

मराठी (लायब्ररी इडिशन) ...	मूल्य रु. ५
,, दो भागों में (कापडी जिल्द)	,, ,, ४
,, ,, ,, (कागज़ी ,,)	,, ,, ३
गुजराथी	,, ,, ४
हिंदी	,, ,, ४
,, दो भागों में	,, ,, ४
गुजराथी गीता	,, ,, ०-८-

डाक महसूल अलग.

ग्रंथ मिलने का पता:—

तिलक ब्रदर्स
गायकवाड वाडा, पूना.

प्रकाशकों की भूमिका।

लोकमान्य तिलकरचित "गीतारहस्य" ग्रन्थ के अन्तिम भाग को, यानी श्रीमद्भगवद्गीता के मूल श्लोक और उनके अनुवाद को, अलग छपाकर उसकी पाठशालाओं में लडका-लडकीओं को बक्षीस देने योग्य, अथवा विद्यार्थिओं के नित्यपाठ के लिये उपयुक्त, इस तरह की एक छोटीसी प्रत बनाने के बारे में, हमें गत पांच छः साल से कई महाशयों ने सूचना दी थी, और उसीके अनुसार अनुवाद का यह नूतन संस्करण किया जाता है। भाषा में गीता के कई अनुवाद उपलब्ध हैं, परन्तु लो० तिलककृत अनुवाद में कुछ विशिष्टता है, जिसको हमारे शब्दों में देने की अपेक्षा, संस्कृत भाषा के सुविख्यात पण्डित स्व० श्री. विष्णु गोविंद विजापूरकर के शब्दों में देना अधिकतर उचित है। अनुवाद का अलग संस्करण करने के बारे में, ता० ७-३-२६ के एक चिट्ठी में आप लिखते हैं—"गीता के कई अनुवाद हुए हैं, परन्तु संस्कृत के जो शब्द भाषा में सहज ही समझ में आ सकते हैं उनको वैसा ही रखकर सरल सम्भाषण पद्धति के तौर पर बहुव्रीहि समासों का वाक्यरूप से किया हुआ क्लिष्टतारहित दूसरा कोई भी अनुवाद अब तक नहीं किया गया है। मेरी यह समझ आपके परमपूज्य पिताजी के किये हुए अनुवाद को देख

कर हुई है। " इस अवतरण से अनुवादशैली की कल्पना सहज़ हो सकती है। अनुवाद के इस नूतन संस्करण में हमने और एक वैशिष्ट्य कायम रखने का यत्न किया है। लोकमान्यजी ने गीता का कर्मयोगपर अर्थ सिद्ध करने के लिये मूल अनुवाद में जो टिप्पणीयाँ दी थी उनमें से कुछ महत्त्व का भाग हमने छोटे टैपों में दिया है। आपके किये हुए कर्मयोगपर विवेचन के प्रसारार्थ इन टिप्पणीओं को दिये बिना काम न चलता। किन्तु, लोकमान्यजी ने कई गूढ ऐतिहासिक संदर्भों का विवरण जिनमें किया था, उन टिप्पणीयों को भी इस पुस्तक में कायम रखा है। कर्मप्रवृत्तिपर निरूपण करते समय गीताध्यायों की सङ्गति किस प्रकार की गई है वह समझ में आने के लिये, मूल गीतारहस्य ग्रन्थ का चौदहवाँ प्रकरण इसमें समग्र जोड दिया है, जो कि विद्यार्थिओं तथा जिज्ञासुओं के लिये अत्यंत उपयुक्त होगा। आशा है कि पाठकगण इस आवृत्ति का स्वीकार करेंगे, और इसमें कुछ दोष मिल जायँ तो कृपा कर उनकी हमें सूचना दे दें, जिनका हम द्वितीय संस्करण में अवश्य बिचार करेंगे।

तिलक बंधु.



कुरुक्षेत्रकी रणभूमि.



गीताध्याय-संगति

(अनुक्रमणिका)

विषय-प्रतिपादन की दो रीतियाँ—शास्त्रीय और संवादात्मक-संवादात्मक पद्धति के गुण दोष—गीता का प्रारम्भ—प्रथमाध्याय—द्वितीयाध्याय में 'सांख्य' और 'योग' इन दो मार्गों से ही आरम्भ—तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में कर्मयोग का विवेचन—कर्म की अपेक्षा साम्यबुद्धि की श्रेष्ठता—कर्म छूट नहीं सकते—सांख्यनिष्ठा की अपेक्षा कर्मयोग श्रेयस्कर है—साम्य-बुद्धि को पाने के लिये इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता—छटें अध्याय मे वर्णित इन्द्रिय-निग्रह का साधन—कर्म, भक्ति और ज्ञान इस प्रकार गीता के तीन स्वतंत्र विभाग करना उचित नहीं है—ज्ञान और भक्ति, कर्मयोग की साम्यबुद्धि के साधन हैं—अतएव त्वम, तत्, असि, इस प्रकार षडध्यायी नहीं होती—सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक ज्ञान-विज्ञान का विवेचन कर्मयोग की सिद्धि के लिये ही है, वह स्वतन्त्र नहीं है—सातवें से लेकर अन्तिम अध्याय तक का तात्पर्य—इन अध्यायों में भी भक्ति और ज्ञान पृथक् पृथक् वर्णित नहीं हैं, परस्पर एक दूसरें नें गूंथ हुए हैं; उनका ज्ञानविज्ञान यही एक नाम

है—तेरह से लेकर सत्रहवें अध्याय तक का सारांश—अठारहवें का उपसंहार कर्मयोगप्रधान ही है—अतः उपक्रम, उपसंहार आदि मीमांसकों की दृष्टि से गीता में कर्मयोग ही प्रतिपाद्य निश्चित होता है—चतुर्विध पुरुषार्थ—अर्थ और काम धर्मानुकूल होना चाहिये—किन्तु मोक्ष का और धर्म का विरोध नहीं है—गीता का संन्यास-प्रधान अर्थ क्योंकर किया गया है—सांख्य+ निष्काम-कर्म=कर्मयोग—गीता में क्या नहीं है?—तथापि अन्त में कर्मयोग ही प्रतिपाद्य है—संन्यास-मार्गवालों से प्रार्थना.

गीताध्याय-संगति.

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् ।*

महाभारत शांति. २१७.२ ।

अब तक किये गये विवेचन से देख पड़ेगा, कि भगवद्गीता में—भगवान् के द्वारा गाये गये उपनिषद् में—यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मों को करते हुए ही अध्यात्म-विचार से या भक्ति से सर्वात्मैक्यरूप साम्यबुद्धि को पूर्णतया प्राप्त कर लेना, और उसे प्राप्त कर लेने पर भी संन्यास लेने की झंझट में न पड़, संसार में शास्त्रतः प्राप्त सब कर्मों को केवल अपना कर्त्तव्य समझ कर करते रहना ही इस संसार में मनुष्य का परमपुरुषार्थ अथवा जीवन व्यतीत करने का उत्तम मार्ग है। परन्तु जिस क्रम से हमने इस ग्रन्थ में उक्त अर्थ का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा

---

*" नारायण ऋषि ने धर्म को प्रवृत्तिप्रधान बतलाया है।" नर और नारायण नामक ऋषियों में से ही ये नारायण ऋषि हैं। पहले बतला चुके हैं कि इन्हीं दोनों के अवतार श्रीकृष्ण और अर्जुन थे। इसी प्रकार महाभारत का वह वचन भी पहले उद्धृत किया गया है जिससे यह मालूम होता है, कि गीता में नारयणीय-धर्म का ही प्रतिपादन किया गया है।

गीता-ग्रन्थ का क्रम भिन्न है, इसलिये अब यह भी देखना चाहिये कि भगवद्गीता में इस विषय का वर्णन किस प्रकार किया गया है। किसी भी विषय का निरूपण दो रीतियों से किया जाता है; एक शास्त्रीय और दूसरी पौराणिक। शास्त्रीय पद्धति वह है, कि जिसके द्वारा तर्कशास्त्रानुसार साधक-बाधक प्रमाणों को क्रमसहित उपस्थित करके यह दिखला दिया जाता है, कि सब लोगों की समझ में सहज ही आ सकनेवाली बातों से किसी प्रतिपाद्य विषय के मूलतत्त्व किस प्रकार निष्पन्न होते हैं। भूमितिशास्त्र इस पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है; और न्यायसूत्र या वेदान्तसूत्र का उपपादन भी इसी वर्ग का है। इसी लिये भगवद्गीता में जहाँ ब्रह्मसूत्र यानी वेदान्तसूत्र का उल्लेख किया गया है वहाँ यह भी वर्णन है कि उसका विषय हेतुयुक्त और निश्चयात्मक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है—" ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः " (गी. १३. ४)। परन्तु भगवद्गीता का निरूपण सशास्त्र भले हो, तथापि वह इस शास्त्रीय पद्धति से नहीं किया गया है। भगवद्गीता में जो विषय है उसका वर्णन, अर्जुन और श्रीकृष्ण के सम्वादरूप में, अत्यन्त मनोरंजक और सुलभ रीति से किया गया है। इसी लिये प्रत्येक अध्याय के अंत में " भगवद्गीतासूप-निषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे " कहकर गीता-निरूपण के स्वरूप के द्योतक " श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे " इन शब्दों का उपयोग

किया गया है। इस निरूपण में और 'शास्त्रीय' निरूपण में जो भेद है, उसको स्पष्टता से बतलाने के लिये हमने सम्वादात्मक निरूपण को ही 'पौराणिक' नाम दिया है। सात सौ श्लोकों के इस सम्वादात्मक अथवा पौराणिक निरूपण में 'धर्म' जैसे व्यापक शब्द में शामिल होनेवाले सभी विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन कभी हो ही नहीं सकता। परन्तु आश्चर्य की बात है, कि गीता में जो अनेक विषय उपलब्ध होते हैं, उनका ही संग्रह (संक्षेप में ही क्यों न हो) अविरोध से कैसे किया जा सका! इस बात से गीताकार की अलौकिक शक्ति व्यक्त होती है; और अनुगीता के आरम्भ में जो यह कहा गया है, कि गीता का उपदेश 'अत्यन्त योगयुक्त चित्त से बतलाया गया है,' इसकी सत्यता की प्रतीति भी हो जाती है। अर्जुन को जो जो विषय पहले से ही मालूम थे, उन्हें फिर से विस्तारपूर्वक कहने की आवश्यकता नहीं थी। उसका मुख्य प्रश्न तो यही था, कि मैं लड़ाई का घोर कृत्य करूँ या न करूँ,और करूं भी तो किस प्रकार करूँ? जब श्रीकृष्ण अपने उत्तर में एक-आध युक्ति बतलाते थे तब अर्जुन उसपर कुछ न कुछ आक्षेप किया करता था। इस प्रकार के प्रश्नोत्तररूपी सम्वाद में गीता का विवेचन स्वभाव ही से कहीं संक्षिप्त और कहीं द्विरुक्त हो गया है। उदाहरणार्थ, त्रिगुणात्मक प्रकृति के फैलाव का वर्णन कुछ थोड़े भेद से दो जगह है (गी. अ. ७ और १४);

और स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, त्रिगुणातीत, तथा ब्रह्मभूत इत्यादि की स्थिति का वर्णन एकसा होने पर भी, भिन्न भिन्न दृष्टियों से प्रत्येक प्रसंग पर बार बार किया गया है। इसके विपरीत 'यदि अर्थ और काम धर्म से विभक्त न हों तो वे ग्राह्य हैं'—इस तत्त्व का दिग्दर्शन गीता में केवल "धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि" (७. ११) इसी एक वाक्य में कर दिया गया है। इसका परिणाम यह होता है, कि यद्यपि गीता में सब विषयों का समावेश किया गया है, तथापि गीता पढ़ते समय उन लोगों के मन में कुछ गड़बड़सी होती जाती है, जो श्रौतधर्म, स्मार्तधर्म, भागवतधर्म, सांख्यशास्त्र, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, कर्म-विपाक इत्यादि के उन प्राचीन सिद्धान्तों की परम्परा से परिचित नहीं हैं, कि जिनके आधार पर गीता के ज्ञान का निरूपण किया गया है। और जब गीता के प्रतिपादन की पद्धति ठीक ठीक ध्यान में नहीं आती, तब वे लोग कहने लगते हैं कि गीता मानो बाजीगर की झोली है, अथवा शास्त्रीय पद्धति के प्रचार के पूर्व गीता की रचना हुई होगी, इसलिये उसमें ठौर ठौर पर अधूरापन और विरोध देख पड़ता है, अथवा गीता का ज्ञान ही हमारी बुद्धि के लिये अगम्य है। संशय को हटाने के लिये यदि टीकाओं का अवलोकन किया जायँ तो उनसे भी कुछ लाभ नहीं होता; क्योंकि वे बहुधा भिन्न

भिन्न सम्प्रदायानुसार बनी हैं! इसलिये टीकाकारों के मतों के परस्पर-विरोधों की एक-वाक्यता करना असम्भवसा हो जाता है और पढ़नेवाले का मन अधिकाधिक घबराने लगता है। इस प्रकार के भ्रम में पड़े हुए कई सुप्रबुद्ध पाठकों को हमने देखा है। इस अड़चन को हटाने के लिये हमने अपनी बुद्धि के अनुसार गीता के प्रतिपाद्य विषयों का शास्त्रीय क्रम बाँध कर अब तक विवेचन किया है। अब यहाँ इतना और बतला देना चाहिये, कि ये ही विषय श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्भाषण में अर्जुन के प्रश्नों या शंकाओं के अनुरोध से, कुछ न्यूनाधिक होकर कैसे उपस्थित हुए हैं। इससे यह विवेचन पूरा हो जायगा और अगले प्रकरण में सुगमता से सब विषयों का उपसंहार कर दिया जायगा।

पाठकों को प्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिये, कि जब हमारा देश हिंदुस्थान ज्ञान, वैभव, यश और पूर्ण स्वराज्य के सुख का अनुभव ले रहा था, उस समय एक सर्वज्ञ, महापराक्रमी, यशस्वी और परमपूज्य क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को—जो महान् धनुर्धारी था—क्षात्रधर्म के स्वकार्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया है। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्त्तक महावीर और गौतमबुद्ध भी क्षत्रिय ही थे; परन्तु इन दोनों ने वैदिक

धर्म के केवल संन्यासमार्ग को अंगीकार कर क्षत्रिय आदि सब वर्णों के लिये संन्यास-धर्म का दरवाजा खोल दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा नहीं किया, क्योंकि भागवत-धर्म का यह उपदेश है कि न केवल क्षत्रियों को, किन्तु ब्राह्मणों को भी, निवृत्ति-मार्ग की शान्ति के साथ साथ निष्काम-बुद्धि से सब कर्म आमरणान्त करते रहने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी भी उपदेश को लीजिये, आप देखेंगे कि उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य रहता ही है; और उपदेश की सफलता के लिये, शिष्य के मन में उस उपदेश का ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा भी प्रथम ही से जागृत रहनी चाहिये। अतएव इन दोनों बातों का खुलासा करने के लिये ही, व्यासजी ने गीता के **पहले अध्याय** में इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है, कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश क्यों दिया है। कौरव और पांडवों की सेनाएँ युद्ध के लिये तैयार होकर कुरुक्षेत्र पर खड़ी हैं; अब थोड़ी ही देर में लड़ाई का आरम्भ होगा; इतने में अर्जुन के कहने से श्रीकृष्ण ने उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया और अर्जुन से कहा, कि "तुझे जिनसे युद्ध करना है, उन भीष्म-द्रोण आदि को देख।" तब अर्जुन ने दोनों सेनाओं की ओर दृष्टि पहुँचाई और देखा कि अपने ही बाप, दादे, काका,

आजा, मामा बंधु, पुत्र, नाती, स्नेही, आप्त, गुरु, गुरुबंधु आदि दोनों सेनाओं में खडे हैं और इस युद्ध में सब लोगों का नाश होनेवाला है ! लड़ाई कुछ एकाएक उपस्थित नहीं हुई थी। लड़ाई करने का निश्चय पहले ही हो चुका था और बहुत दिनों से दोनों ओर की सेनाओं का प्रबन्ध हो रहा था। परन्तु इस आपस की लड़ाई से होनेवाले कुलक्षय का **प्रत्यक्ष** स्वरूप जब पहले पहल अर्जुन की नज़र में आया, तब उसके समान महायोद्धा के भी मन में विषाद उत्पन्न हुआ और उसके मुख से ये शब्द निकल पडे, "ओह ! आज हम लोग अपने ही कुल का भयंकर क्षय इसी लिये करनेवाले हैं न, कि राज्य हमों को मिले; इसकी अपेक्षा भिक्षा माँगना क्या बुरा है ?" और इसके बाद उसने श्रीकृष्ण से कहा, "शत्रु ही चाहे मुझे जान से मार डालें, इसकी मुझे परवा नहीं; परन्तु त्रैलोक्य के राज्य के लिये भी मैं पितृहत्या, गुरुहत्या, बंधुहत्या या कुलक्षय के समान घोर पातक करना नहीं चाहता ।" उसकी सारी देह थर-थर काँपने लगी; हाथ पैर शिथिल हो गये; मुंह सुख गया और खिन्न-वदन हो अपने हाथ का धनुषबाण फेंककर वह बेचारा रथ में चुपचाप बैठ गया। इतनी कथा पहले अध्याय में है। इस अध्याय को "अर्जुन-विषाद-योग" कहते हैं; क्योंकि यद्यपि पूरी गीता

में ब्रह्मविद्यान्तर्गत (कर्म-) योगशास्त्र नामक एकही विषय प्रतिपादित हुआ है, तो भी प्रत्येक अध्याय में जिस विषय का वर्णन प्रधानता से किया जाता है, उस विषय को इस कर्मयोग शास्त्र का ही एक भाग समझना चाहिये; और ऐसा समझकर ही प्रत्येक अध्याय को उसके विषयानुसार अर्जुन-विषाद-योग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिये गये हैं। इन सब 'योगों' को एकत्र करने से "ब्रह्मविद्या का कर्म-योग-शास्त्र" हो जाता है। पहले अध्याय की कथा का महत्त्व हम इस ग्रन्थ के आरम्भ में कहे चुके हैं। इसका कारण यह है, कि जब तक हम उपस्थित प्रश्न के स्वरूप को ठीक तौर से जान न लें, तब तक उस प्रश्न का उत्तर भी भली भाँति हमारे ध्यान में नहीं आता। यदि कहा जाय, कि गीता का यही तात्पर्य है कि "सांसारिक कर्मों से निवृत्त होकर भगवद्भजन करो, या संन्यास ले लो;" तो फिर अर्जुन को उपदेश करने की कुछ आवश्यकता ही न थी, क्योंकि वह तो लड़ाई का घोर कर्म छोड़कर भिक्षा माँगने के लिये आपही आप तैयार हो गया था। पहले ही अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण के मुख से ऐसे अर्थ का एक-आध श्लोक कहलाकर गीता की समाप्ति कर देनी चाहिये थी, कि " वाह ! क्या ही अच्छा कहा ! तेरी इस उपरति को देख मुझे आनन्द मालूम

होता है ! चलो, हम दोनों इस कर्ममय संसार को छोड़ संन्यासाश्रम के द्वारा या भक्ति के द्वारा आपने आत्मा का कल्याण कर लें !" फिर इधर लड़ाई हो जाने पर, व्यासजी उसका वर्णन करने मे तीन वर्ष तक (मभा. आ. ६२. ५२) अपनी वाणी का भले ही दुरुपयोग करते रहते; परन्तु उसका दोष बिचारे अर्जुन और श्रीकृष्ण पर तो आरोपित न हुआ होता। हाँ यह सच है, कि कुरुक्षेत्र में जो सैकड़ों महारथी एकत्र हुए थे वे अवश्य ही अर्जुन और श्रीकृष्ण का उपहास करते। परन्तु जिस मनुष्य को अपने आत्मा का कल्याण कर लेना है, वह ऐसे उपहास की परवा ही क्यों करता ? संसार कुछ भी कहे; उपनिषदों में तो यही कहा है, कि "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जा.४) अर्थात् जिस क्षण उपरति हो उसी क्षण संन्यास धारण करो; विलम्ब न करो। यदि यह कहा जाय, कि अर्जुन की उपरति ज्ञानपूर्वक न थी, वह केवल मोह की थी; तो भी वह थी तो उपरति ही; बस, उपरति होने से ही आधा काम हो चुका; अब मोह को हटा कर उसी उपरति को पूर्णज्ञानमूलक कर देना भगवान् के लिये कुछ असम्भव बात न थी। भक्ति-मार्ग में या संन्यास-मार्ग में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, कि जब कोई किसी कारण से संसार से उकता गये तो वे दुःखित हो इस संसार क

छोड जंगल में चले गये, और उन लोगों ने पूरी सिद्धि भी प्राप्त कर ली है। इसी प्रकार अर्जुन की भी दशा हुई होती। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता था, कि संन्यास लेने के समय वस्त्रों को गेरुआ रंग देने के लिये मुट्ठी भर लाल मिट्टी या भगवन्नाम-संकीर्तन के लिये झांझ, मृदंग आदि सामग्री, सारे कुरुक्षेत्र में भी न मिलती!

परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं किया; उलटा **दूसरे अध्याय** के आरम्भ में ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि, "अरे! तुझे यह दुर्बुद्धि (कश्मल) कहाँ से सूझ पड़ी? यह नामर्दी (क्लैब्य) तुझे शोभा नहीं देती! यह तेरी कीर्ति को धूली में मिला देगी! इसलिये इस दुर्बलता का त्याग कर युद्ध के लिये खड़ा हो जा!" परन्तु अर्जुन ने किसी अबला की तरह अपना वह रोना जारी ही रखा। वह अत्यन्त दीन-हीन वाणी से बोला- 'मैं भीष्म, द्रोण आदि महात्माओं को कैसे मारूं? मेरा मन इसी संशय में चक्कर खा रहा है कि मरना भला है या मारना? इसलिये मुझे यह बतलाइये कि इन दोनों में कौनसा धर्म श्रेयस्कर है; मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ।" अर्जुन की इन बातों को सुनकर श्रीकृष्ण जान गये, कि अब यह माया के चंगुल में फँस गया है। इसलिये जरा हँसकर उन्होंने उसे "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इत्यादि ज्ञान बतलाना आरम्भ

किया। अर्जुन ज्ञानी पुरुष के सदृश बर्ताव करना चाहता था, और वह कर्म-संन्यास की बातें भी करने लग गया था। इसलिये संसार में ज्ञानी पुरुष के आचारण के जो दो पंथ देख पड़ते हैं--अर्थात्, 'कर्म करना' और 'कर्म छोड़ना'—वहीं से भगवान् ने उपदेश का आरम्भ किया है; और अर्जुन को पहली बात यही बतलाई है, कि इन दो पन्थों या निष्ठाओं में से तू किसी को भी ले, परन्तु तू भूल कर रहा है। इसके बाद, जिस ज्ञान या सांख्यनिष्ठा के आधार पर अर्जुन कर्म-संन्यास की बात करने लगा था, उसी सांख्यनिष्ठा के आधार पर, श्रीकृष्ण ने प्रथम 'एषा तेऽभिहिता बुद्धिः' (गी. २. ११-३९) तक उपदेश किया है; और फिर अध्याय के अन्त तक कर्मयोग-मार्ग के अनुसार अर्जुन को यही बतलाया है, कि युद्ध ही तेरा सच्चा कर्त्तव्य है। यदि 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' सरीखा श्लोक "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" श्लोक के पहले आता, तो यही अर्थ और भी अधिक व्यक्त हो गया होता। परन्तु सम्भाषण के प्रवाह में, सांख्य-मार्ग का प्रतिपादन हो जाने पर, वह इस रूप में आया है—"यह तो सांख्य-मार्ग के अनुसार प्रतिपादन हुआ, अब योगमार्ग के अनुसार प्रतिपादन करता हूँ।" कुछ भी हो, परन्तु अर्थ एकही है। चित्त की शुद्धता के लिये स्वधर्मानुसार वर्णाश्रमविहित कर्म करके ज्ञानप्राप्ति होने पर मोक्ष

के लिये अन्त में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना सांख्यमार्ग है; और कर्मों का कभी त्याग न कर अन्त तक उन्हें निष्काम-बुद्धि से करते रहना योग अथवा कर्मयोग है। अर्जुन से भगवान् प्रथम यह कहते हैं, कि सांख्यमार्ग के अध्यात्मज्ञानानुसार आत्मा अविनाशी और अमर है; इसलिये तेरी यह समझ गलत है कि "मैं भीष्म, द्रोण आदि को मारूँगा;" क्योंकि न तो आत्मा मरता है और न मारता ही है। जिस प्रकार मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, इसी प्रकार आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरी देह में चला जाता है; परन्तु इसलिये उसे मृत मानकर शोक करना उचित नहीं। अच्छा; मान लिया कि "मैं मारूँगा" यह भ्रम है, तब तू कहेगा कि युद्ध ही क्यों करना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है, कि शास्त्रतः प्राप्त हुए युद्ध से परावृत्त न होना ही क्षत्रियों का धर्म है, और जब कि इस सांख्यमार्ग में प्रथमतः वर्णाश्रम-विहित कर्म करना ही श्रेयस्कर माना जाता है, तब यदि तू वैसा न करेगा तो लोग तेरी निन्दा करेंगे—अधिक क्या कहें, युद्ध में मरना ही क्षत्रियों का धर्म है। फिर व्यर्थ शोक क्यों करता है? 'मैं मारूँगा और वह मरेगा' यह केवल कर्म-दृष्टि है—इसे छोड़ दे; तू अपना प्रवाह-पतित कार्य ऐसी बुद्धि से करता चला जा, कि मैं केवल अपना स्वधर्म कर रहा हूँ, इससे तुझे कुछ भी पाप नहीं लगेगा। यह उपदेश सांख्य-

मार्गानुसार हुआ। परन्तु चित्त की शुद्धता के लिये प्रथमतः कर्म करके चित्तशुद्धि हो जाने पर अन्त में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना ही यदि इस मार्ग के अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है, तो यह शङ्का रह ही जाती है, कि उपरति होते ही युद्ध को छोड़ (यदि हो सके तो) संन्यास ले लेना क्या अच्छा नहीं है ? केवल इतना कह देने से काम नहीं चलता, कि मनु आदि स्मृतिकारों की आज्ञा है, कि गृहस्थाश्रम के बाद फिर कहीं बुढ़ापे में संन्यास लेना चाहिये, युवावस्था में तो गृहस्थाश्रमी ही होना चाहिये। क्योंकि, किसी भी समय यदि संन्यास लेना ही श्रेष्ठ है, तो ज्यों ही संसार से जी हटा त्यों ही तनिक भी देर न कर, संन्यास लेना उचित है; और इसी हेतु से उपनिषदों में भी ऐसे वचन पाये जाते हैं कि " ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा " (जा. ४)। संन्यास लेने से जो गति प्राप्त होगी, वही युद्ध-क्षेत्र में मरने से क्षत्रिय को प्राप्ति होती है। महाभारत में कहा है;—

> **द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमंडलभेदिनौ।**
> **परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥**

अर्थात्–" हे पुरुषव्याघ्र। सूर्यमंडल को पार कर ब्रह्मलोक को जानेवाले केवल दो ही पुरुष हैं: एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा युद्ध में लड़ कर मर जानेवाला वीर " (उद्यो. ३२,

६५)। इसी अर्थ का एक श्लोक कौटिल्य के, यानी चाणक्य के अर्थशास्त्र में भी है:—

यान् यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यांति।
क्षणेन तानप्यतियांति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः॥

"स्वर्ग की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण अनेक यज्ञों से, यज्ञपात्रों से और तपों से जिस लोक में जाते हैं, उस लोक के भी आगे के लोक में युद्ध में प्राण अर्पण करनेवाले शूर पुरुष एक क्षण में जा पहुँचते हैं"—अर्थात् न केवल तपस्वियों को या संन्यासियों को बरन् यज्ञ-याग आदि करनेवाले दीक्षितों को भी जो गति प्राप्त होती है, वही युद्ध में मरनेवाले क्षत्रिय को भी मिलती है (कौटि. १०. ३. १५०-१५२; और मभा. शां. ९८-१००)। "क्षत्रिय को स्वर्ग में जाने के लिये युद्ध के समान दूसरा दरवाजा क्वचित् ही खुला मिलता है; युद्ध में मरने से स्वर्ग, और जय प्राप्त करने से पृथ्वी का राज्य मिलेगा" (२. ३२, ३७)"—गीता के इस उपदेश का तात्पर्य भी वही है। इसलिये सांख्यमार्ग के अनुसार यह भी प्रतिपादन किया जा सकता है, कि क्या संन्यास लेना और क्या युद्ध करना, दोनों से एक ही फल की प्राप्ति होती है। इस मार्ग के युक्तिवाद से यह निश्चितार्थ पूर्ण रीति से सिद्ध नहीं होता, कि 'कुछ भी हो, युद्ध करना ही चाहिये।' सांख्यमार्ग में जो यह न्यूनता या दोष है,

उसे ध्यान में रख आगे भगवान् ने कर्म-योग-मार्ग का प्रतिपादन आरम्भ किया है; और गीता के अन्तिम अध्याय के अन्त तक इसी कर्मयोग का—अर्थात् कर्मों को करना ही चाहिये और मोक्ष में इनसे कोई बाधा नहीं होती, किन्तु इन्हें करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसका—भिन्न भिन्न प्रमाण देकर शंकानिवृत्ति-पूर्वक समर्थन किया है। इस कर्मयोग का मुख्य तत्त्व यह है, कि किसी भी कर्म को भला या बुरा कहने के लिये उस कर्म के बाह्य परिणामों की अपेक्षा पहले यह देख लेना चाहिये, कि कर्त्ता कि वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है अथवा अशुद्ध (गी. २. ४९)। परन्तु वासना की शुद्धता या अशुद्धता का निर्णय भी तो अखिर व्यवसायात्मक बुद्धि ही करती है; इसलिये जब तक निर्णय करनेवाली बुद्धीन्द्रिय स्थिर और शान्त न होगी, तब तक वासना भी शुद्ध या सम नहीं हो सकती। इसी लिये उसके साथ यह भी कहा है, कि वासनात्मक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये समाधि के योग से व्यवसायात्मक बुद्धीन्द्रिय को भी स्थिर कर लेना चाहिये (गी. २.४१)। संसार के सामान्य व्यवहारों की ओर देखने से प्रतीत होता है, कि बहुतेरे मनुष्य स्वर्गादि भिन्न भिन्न काम्य सुखों की प्राप्ति के लिये ही यज्ञ-यागादिक वैदिक काम्य कर्मों की झंझट में पड़े रहते हैं; इससे उनकी बुद्धि कभी एक फल की प्राप्ति में, कभी दूसरे ही फल की प्राप्ति में, अर्थात्

स्वार्थ ही में, निमग्न रहती है और सदा बदलनेवाली यानी चंचल हो जाती है। ऐसे मनुष्यों को स्वर्ग-सुखादिक अनित्य फल की अपेक्षा अधिक महत्त्व का अर्थात् मोक्ष-रूपी नित्य सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इसी लिये अर्जुन को कर्म-योग-मार्ग का रहस्य इस प्रकार बतलाया गया है कि, वैदिक कर्मों के काम्य झगड़ों को छोड़ दे और निष्काम-बुद्धि से कर्म करना सीख; तेरा अधिकार केवल कर्म करने भर का ही है--कर्म के फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति तेरे अधिकार की बात नहीं है (२. ४७); ईश्वर को ही फल-दाता मान कर जब इस समबुद्धि से--कि कर्म का फल मिले अथवा न मिले, दोनों समान हैं--केवल स्वकर्त्तव्य समझ कर ही कुछ काम किया जाता है, तब उस कर्म के पापपुण्य का लेप कर्त्ता को नहीं होता;इसलिये तू इस समबुद्धि का आश्रय कर; इस समबुद्धि को ही **योग**--अर्थात् पाप के भागी न होते हुए कर्म करने की युक्ति--कहते हैं; यदि तुझे यह योग सिद्ध हो जाय, तो कर्म करने पर भी तुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी; मोक्ष के लिए कुछ कर्म-संन्यास की आवश्यकता नहीं है (२. ४७-५३)। जब भगवान् ने अर्जुन से कहा, कि जिस मनुष्य की बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं (२.५३), तब अर्जुन ने पूछा कि "महाराज! कृपा कर बतलाइये कि स्थितप्रज्ञ का बर्ताव कैसा होता है?" इस लिये दूसरे अध्याय

के अन्त में स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया गया है, और अन्त में कहा गया है, कि स्थितप्रज्ञ की स्थिति को ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। सारांश यह है, कि अर्जुन को युद्ध मे प्रवृत्त करने के लिये गीता में जो उपदेश दिया गया है, उसका प्रारम्भ उन दो निष्ठाओं से ही किया गया है कि जिन्हें इस संसार के ज्ञानी मनुष्यों ने ग्राह्य माना है, और जिन्हें 'कर्म छोड़ना' (सांख्य) और 'कर्म करना' (योग) कहते हैं, तथा युद्ध करने की आवश्यकता की उपपत्ति पहले सांख्य-निष्ठा के अनुसार बतलाई गई है। परन्तु जब यह देखा गया, कि इस उपपत्ति से काम नहीं चलता—यह अधूरी है—तब फिर तुरंत ही योग या कर्मयोग-मार्ग के अनुसार ज्ञान बतलाना आरम्भ किया है; और यह बतलाने के पश्चात्, कि इस कर्मयोग का अल्प आचरण भी कितना श्रेयस्कर है, दूसरे अध्याय में भगवान् ने अपने उपदेश को इस स्थान तक पहुँचा दिया है—कि जब कर्मयोगमार्ग में कर्म की अपेक्षा वह बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है, जिससे कर्म करने की प्रेरणा हुआ करती है, तो अब स्थितप्रज्ञ की नाईं तू अपनी बुद्धि को सम करके अपना कर्म कर, जिससे तू कदापि पाप का भागी न होगा। अब देखना है, कि आगे और कौन कौन से प्रश्न उपस्थित होते हैं। गीता के सारे उपपादन की जड़ दूसरे अध्याय में ही है, इसलिये इसके विषय का विवेचन यहाँ कुछ विस्तार से किया गया है।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने प्रश्न किया है, कि "यदि कर्मयोगमार्ग में भी कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है, तो मैं अभी स्थितप्रज्ञ की नाईं अपनी बुद्धि को सम किये लेता हूँ; फिर आप मुझसे इस युद्ध के समान घोर कर्म करने के लिये क्यों कहते हैं?" इसका कारण यह है, कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ कह देने से ही इस प्रश्न का निर्णय नहीं हो जाता कि—युद्ध क्यों करे? बुद्धि को सम रख कर उदासीन क्यों न बैठे रहें? बुद्धि को सम रखने पर भी कर्म-संन्यास किया जा सकता है। फिर जिस मनुष्य की बुद्धि सम हो गई है उसे सांख्यमार्ग के अनुसार कर्मों का त्याग करने में क्या हर्ज है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं, कि पहले तुझे **सांख्य** और **योग** नामक दो निष्ठाएँ बतलाई हैं सही; परन्तु यह भी स्मरण रहे, कि किसी मनुष्य के कर्मों का सर्वथा छूट जाना असम्भव है। जब तक वह देहधारी है, तब तक प्रकृति स्वभावतः उससे कर्म करावेगी ही; और जब कि प्रकृति के ये कर्म छूटते ही नहीं हैं, तब तो इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा बुद्धि को स्थिर और सम करके केवल कर्मेन्द्रियों से ही अपने सब कर्त्तव्य-कर्मों को करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। इसलिये तू कर्म कर; यदि कर्म नहीं करेगा तो तुझे खाने तक को न मिलेगा (३. ३-८)। ईश्वर ने ही कर्म को उत्पन्न किया है,

मनुष्य ने नहीं। जिस समय ब्रह्मदेव ने सृष्टि और प्रजा को उत्पन्न किया, उसी समय उसने 'यज्ञ' को भी उत्पन्न किया था; और उसने प्रजा से यह कह दिया था, कि यज्ञ के द्वारा तुम अपनी समृद्धि कर लो। जब कि यह यज्ञ बिना कर्म किये सिद्ध नहीं होता, तो अब यज्ञ को कर्म ही कहना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि मनुष्य और कर्म साथ ही साथ उत्पन्न हुए हैं। परन्तु ये कर्म केवल यज्ञ के लिये ही हैं और यज्ञ करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, इस लिये इन कर्मों के फल मनुष्य को बन्धन में डालनेवाले नहीं होते। अब यह सच है, कि जो मनुष्य पूर्ण ज्ञानी हो गया, स्वयं उसके लिये कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता; और, न लोगों से ही उसका कुछ अटका रहता है। परन्तु इतने ही से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि कर्म मत करो; क्योंकि कर्म करने से किसीको भी छुटकारा न मिलने के कारण यही अनुमान करना पड़ता है, कि यदि स्वार्थ के लिये न हो तो भी अब उसी कर्म को निष्काम-बुद्धि से लोक-संग्रह के लिये अवश्य करना चाहिये (३. १७, १९)। इन्हीं बातों पर ध्यान दे कर प्राचीन काल में जनक आदि ज्ञानी पुरुषों ने कर्म किये हैं और मैं भी कर रहा हूँ! इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रहे, कि ज्ञानी पुरुषों के कर्त्तव्यों में 'लोक-संग्रह करना' एक मुख्य कर्त्तव्य है; अर्थात् अपने बर्ताव से लोगों को सन्मार्ग की शिक्षा

देना और उन्हें उन्नति के मार्ग में लगा देना, ज्ञानी पुरुष ही का कर्त्तव्य है। मनुष्य कितना ही ज्ञानवान् क्यों न हो जावे, परन्तु प्रकृति के व्यवहारों से उसका छुटकारा नहीं है; इसलिये कर्मों को छोड़ना तो दूर ही रहा, परन्तु कर्त्तव्य समझ कर स्वधर्मानुसार कर्म करते रहना और—आवश्यकता होने पर—उसीमें मर जाना भी श्रेयस्कर है (३. ३०–३५)—इस प्रकार तीसरे अध्याय में भगवान् ने उपदेश दिया है। भगवान् ने इस प्रकार प्रकृति को सब कामों का कर्तृत्व दे दिया; यह देख अर्जुन ने प्रश्न किया कि मनुष्य, इच्छा न रहने पर भी, पाप क्यों करता है? तब भगवान् ने यह उत्तर देकर अध्याय समाप्त कर दिया है कि, काम-क्रोध आदि विकार बलात्कार से मन को भ्रष्ट कर देते हैं; अतएव अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके प्रत्येक मनुष्य को अपना मन अपने अधीन रखना चाहिये। सारांश, स्थितप्रज्ञ की नाई बुद्धि की समता हो जाने पर भी कर्म से किसी का छुटकारा नहीं, अतएव यदि स्वार्थ के लिये न हो तो भी लोकसंग्रह के लिये निष्काम बुद्धि से कर्म करते ही रहना चाहिये—इस प्रकार कर्म-योग की आवश्यकता सिद्ध की गई है; और भक्तिमार्ग के परमेश्वरार्पणपूर्वक कर्म करने के इस तत्त्व का भी, 'कि मुझे सब कर्म अर्पण कर' (३. ३०, ३१), इसी अध्याय में प्रथम उल्लेख हो गया है।

परन्तु यह विवेचन तीसरे अध्याय में पूरा नहीं हुआ, इसलिये **चौथा अध्याय** भी उसी विवेचन के लिये आरम्भ किया गया है। किसी के मन में यह शंका न आने पाये, कि अब तक किया गया प्रतिपादन केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये ही नूतन रचा गया होगा; इसलिये अध्याय के आरम्भ में इस कर्मयोग की अर्थात् भागवत या नारायणीय धर्म की त्रेतायुगवाली परम्परा बतलाई गई है। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, कि आदौ यानी युग के आरम्भ में मैंने ही यह कर्मयोग-मार्ग विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया था, परन्तु इस बीच में यह नष्ट हो गया था इसलिये मैंने यही योग (कर्मयोगमार्ग) तुझे फिर से बतलाया है; तब अर्जुन ने पूछा, कि आप विवस्वान् के पहले कैसे होंगे? इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने बतलाया है, कि साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना करना ही मेरे अनेक अवतारों का प्रयोजन है; एवं इस प्रकार लोग-संग्रहकारक कर्मों को करते हुए भी उनमें मेरी कुछ आसक्ति नहीं है, इसलिये मैं उनके पाप-पुण्यादि फलों का भागी नहीं होता। इस प्रकार कर्मयोग का समर्थन करके और यह उदाहरण देकर, कि प्राचीन समय में जनक आदि ने भी इसी तत्त्व को ध्यान में लाकर कर्मों का आचरण किया है, भगवान् ने अर्जुन को फिर यही उपदेश दिया है, कि 'तू

भी वैसे ही कर्म कर ’ । तीसरे अध्याय में मीमांसकों का जो यह सिद्धान्त बतलाया गया था, कि ‘ यज्ञ के लिये किये गये कर्म बन्धक नहीं होते, ” उसीको अब फिर से बतलाकर ‘ यज्ञ ’ की विस्तृत और व्यापक व्याख्या इस प्रकार की है—केवल तिल और चावल को जलाना अथवा पशुओं को मारना एक प्रकार का यज्ञ है सही, परन्तु यह द्रव्यमय यज्ञ हलके दर्जे का है और संयमाग्नि में काम-क्रोधादिक इन्द्रियवृत्तियों को जलाना अथवा ‘न मम’ कहकर सब कर्मों का ब्रह्म में स्वाहा कर देना ऊंचे दर्जे का यज्ञ है । इसलिये अब अर्जुन को ऐसा उपदेश किया है, कि तू इस ऊंचे दर्जे के यज्ञ के लिये फलाशा का त्याग करके कर्म कर । मीमांसकों के न्याय के अनुसार यज्ञार्थ किये गये कर्म यदि स्वतंत्र रीति से बंधक न हों, तो भी यज्ञ का न कुछ न कुछ फल बिना प्राप्त हुए नहीं रहता । इसलिये यज्ञ भी यदि निष्काम-बुद्धि से ही किया जावे, तो उसके लिये किया गया कर्म और स्वयं यज्ञ दोनों बंधक न होंगे । अन्त में कहा है, कि साम्य-बुद्धि उसे कहते हैं जिससे यह ज्ञान हो जावे, कि सब प्राणी अपने में या भगवान् में हैं । जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तभी सब कर्म भस्म हो जाते हैं और कर्त्ता को उनकी कुछ बाधा नहीं होती । “ सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ”—सब कर्मों का लय ज्ञान में हो जाता है; कर्म स्वयं बन्धक नहीं होते, बन्धन

केवल अज्ञान से उत्पन्न होता है। इसलिये अर्जुन को यह उपदेश दिया गया है, कि अज्ञान को छोड़ कर्मयोग का आश्रय कर और लड़ाई के लिये खड़ा हो जा। सारांश, इस अध्याय में ज्ञान की इस प्रकार प्रस्तावना की गई है, कि कर्म-योग-मार्ग की सिद्धि के लिये भी साम्यबुद्धि-रूप ज्ञान की आवश्यकता है।

कर्मयोग की आवश्यकता क्या है या कर्म क्यों किये जावें—इसके कारणों का बिचार तीसरे और चौथे अध्याय में किया गया है सही; परन्तु दूसरे अध्याय में सांख्य-ज्ञान का वर्णन करके कर्मयोग के विवेचन में भी बारबार कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ बतलाई गई है, इसलिये यह बतलाना अब अत्यन्त आवश्यक है, कि इन दो मार्गों में कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है। क्योंकि, यदि दोनों मार्ग एकसी योग्यता के कहे जायँ, तो परिणाम यह होगा, कि जिसे जो मार्ग अच्छा लगेगा वह उसीको अङ्गीकार कर लेगा—केवल कर्मयोग को ही स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अर्जुन के मन में यही शङ्का उत्पन्न हुई, इसलिये उसने **पांचवें अध्याय** के आरम्भ में भगवान् से पूछा है, कि "सांख्य और योग दोनों निष्ठाओं को एकत्र करके मुझे उपदेश न कीजिये, मुझे केवल इतना ही निश्चयात्मक बतला दीजिये, कि इन दोनों में श्रेष्ठ मार्ग कौनसा है, जिससे कि मैं सहज ही उसके अनुसार बर्ताव कर सकूँ।" इस पर

भगवान् ने स्पष्ट रीति से यह कह कर अर्जुन का सन्देह दूर कर दिया है कि यद्यपि दोनों मार्ग निःश्रेयस्कर हैं, अर्थात् एकसे ही मोक्षप्रद हैं, तथापि उनमें कर्मयोग की योग्यता अधिक है— "कर्मयोगो विशिष्यते" (५. २) । इसी सिद्धान्त को दृढ करने के लिये भगवान् और भी कहते हैं, कि संन्यास या सांख्यनिष्ठा से जो मोक्ष मिलता है वही कर्मयोग से भी मिलता है; इतना ही नहीं, परन्तु कर्मयोग में जो निष्कामबुद्धि बतलाई गई है उसे बिना प्राप्त किये संन्यास सिद्ध नहीं होता; और जब वह प्राप्त हो जाती है, तब योग-मार्ग से कर्म करते रहने पर भी ब्रह्मप्राप्ति अवश्य हो जाती है । फिर यह झगड़ा करने से क्या लाभ है, कि सांख्य और योग भिन्न भिन्न हैं ? यदि हम चलना, बोलना, देखना, सुनना, बास लेना इत्यादि सैंकडों कर्मो को छोड़ना चाहे तो भी वे नहीं छूटते; इस दशा में कर्मो को छोड़ने का हठ न कर उन्हें ब्रह्मार्पणबुद्धि से करते रहना ही बुद्धिमत्ता का मार्ग है । इसलिये तत्त्वज्ञानी पुरुष निष्काम-बुद्धि से कर्म करते रहते हैं, और अन्त में उन्हीं के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर लिया करते हैं । ईश्वर तुमसे न यह कहता है कि कर्म करो, और न यह कहता है कि उनका त्याग कर दो । यह तो सब प्रकृति की क्रीड़ा है; और बन्धन मन का धर्म है, इसलिये

जो मनुष्य समबुद्धि से अथवा ' सर्वभूतात्मभूतात्मा ' हो कर कर्म किया करता है, उसे उस कर्म की बाधा नहीं होती। अधिक क्या कहें; इस अध्याय के अन्त में यह भी कहा है, कि जिसकी बुद्धि कुत्ता, चांडाल, ब्राह्मण, गौ, हाथी इत्यादि के प्रति सम हो जाती है, और जो सर्वभूतान्तर्गत आत्मा की एकता को पहचान कर अपने व्यवहार करने लगता है, उसे बैठे बिठाये ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है—मोक्षप्राप्ती के लिये उसे कहीं भटकना नहीं पड़ता, वह सदा मुक्त ही है।

छठे अध्याय में वही विषय आगे चल रहा है; और उसमें कर्मयोग की सिद्धि के लिये आवश्यक समबुद्धि की प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। पहले ही श्लोक में भगवान् ने अपना मत स्पष्ट बतला दिया है, कि जो मनुष्य कर्म-फल की आशा न रख केवल कर्त्तव्य समझकर संसार के प्राप्त कर्म करता है, वही सच्चा योगी और सच्चा संन्यासी है; जो मनुष्य अग्नि-होत्र आदि कर्मों का त्याग कर चुपचाप बैठ रहे वह सच्चा संन्यासी नहीं है। इसके बाद भगवान् ने आत्मस्वतंत्रता का इस प्रकार वर्णन किया है, कि कर्मयोग-मार्ग में बुद्धि को स्थिर करने के लिये इन्द्रियनिग्रह-रूपी जो कर्म करना पड़ता है उसे स्वयं आपही करे; यदि कोई ऐसा न करे तो किसी दूसरे पर

उसका दोषारोपण नहीं किया जा सकता । इसके आगे इस अध्याय में इन्द्रिय-निग्रहरूपी योग की साधना का पांतजलयोग की दृष्टि से मुख्यतः वर्णन किया गया है । परन्तु यम-नियम-आसन-प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा यद्यपि इन्द्रियों का निग्रह किया जावें, तो भी उतने मे ही काम नहीं चलता; इसलिये आत्मैक्यज्ञान की भी आवश्यकता के विषय में इसी अध्याय में कहा गया है, कि आगे उस पुरुष की वृत्ति 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' अथवा 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ' (६. २९, ३०) इस प्रकार सब प्राणियों में सम हो जानी चाहिये । इतने में अर्जुन ने यह शङ्का उपस्थित की, कि यदि यह साम्यबुद्धिरूपी योग एक जन्म में सिद्ध न हो तो फिर दूसरे जन्म में भी आरम्भ ही से उसका अभ्यास करना होगा—और फिर भी वही दशा होगी—और इस प्रकार यदि यह चक्र हमेशा चलता ही रहे, तो मनुष्य को इस मार्ग के द्वारा सद्गति प्राप्त होना असम्भव है । इस शङ्का का निवारण करनें के लिये भगवान् ने पहले यह कहा है, कि योग-मार्ग में कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता । पहले जन्म के संस्कार शेष रह जाते हैं और उनकी सहायता से दूसरे जन्म में अधिक अभ्यास होता है, तथा क्रम क्रम से अन्त में सिद्धि

मिल जाती है । इतना कहकर भगवान् ने इस अध्याय के अन्त में अर्जुन को पुनः यह निश्चित और स्पष्ट उपदेश किया है, कि कर्मयोग-मार्ग ही श्रेष्ठ और क्रमशः सुसाध्य है, इसलिये केवल (अर्थात् फलाशा को न छोड़ते हुए) कर्म करना, तपश्चर्या करना, ज्ञान के द्वारा कर्मसंन्यास करना इत्यादि सब मार्गों को छोड दे और तू योगी हो जा—अर्थात् निष्काम कर्मयोगमार्ग का आचरण करने लग ।

कुछ लोगों का मत है, कि यहाँ, अर्थात् पहले छः अध्यायों में, कर्मयोग का विवेचन पूरा हो गया; इसके आगे ज्ञान और भक्ति को 'स्वतंत्र' निष्ठा मान कर भगवान् ने उनका वर्णन किया है—अर्थात् ये दोनों निष्ठाएँ परस्पर निरपेक्ष या कर्मयोग की ही बराबरी की, परन्तु उससे पृथक् और उसके बदले विकल्प के नाते से आचरणीय हैं; सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक भक्ति का और आगे शेष छः अध्यायों में ज्ञान का वर्णन किया गया है; और इस प्रकार अठारह अध्यायों के विभाग करने से कर्म, भक्ति और ज्ञान में से प्रत्येक के हिस्से में छः छः अध्याय आते हैं तथा गीता के समान भाग हो जाते हैं । परन्तु यह मत ठीक नहीं है ! पाँचवें अध्याय के श्लोकों से स्पष्ट मालूम होता है, कि जब अर्जुन की मुख्य शङ्का यही थी कि "मैं

सांख्यनिष्ठा के अनुसार युद्ध करना छोड़ दूँ, या युद्ध के भयंकर परिणाम को प्रत्यक्ष दृष्टि के सामने देखते हुए भी युद्ध ही करूं? और, यदि युद्ध ही करना पडे तो उसके पाप से कैसे बचूँ?"–तब उसका समाधान ऐसे अधूरे और अनिश्चित उत्तर से कभी हो ही नहीं सकता था, कि "ज्ञान से मोक्ष मिलता है, और वह कर्म से भी प्राप्त हो जाता है; और यदि तेरी इच्छा हो, तो भक्ति नाम की एक और तीसरी निष्ठा भी है।" इसके अतिरिक्त, यह मानना भी ठीक न होगा, कि जब अर्जुन किसी एक ही निश्चयात्मक मार्ग को जानना चाहता है, तब सन्त और चतुर श्रीकृष्ण उसके प्रश्न के मूल स्वरूप को छोड़कर उस तीन स्वतंत्र और विकल्पात्मक मार्ग बतला दें। सच बात तो यह है, कि गीता में 'कर्मयोग' और 'संन्यास' इन्हीं दो निष्ठाओं का विचार है (गी. ५. १); और यह भी साफ़ साफ़ बतला दिया है, कि इनमें से 'कर्मयोग' ही अधिक श्रेयस्कर है (गी. ५. २.)। भक्ति की तीसरी निष्ठा तो कहीं बतलाई भी नहीं गई है। अर्थात् यह कल्पना साम्प्रदायिक टीकाकारों की मन-गढन्त है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन स्वतंत्र निष्ठाएँ हैं। और उनकी यह समझ होने के कारण, कि गीता में केवल मोक्ष के उपायों का ही वर्णन किया गया है, उन्हें ये तीन निष्ठाएँ कदाचित् भागवत

से सूझी हों (भाग. ११. २०. ६)। परंतु टीकाकारों के ध्यान में यह बात नहीं आई, कि भागवतपुराण और भगवद्गीता का तात्पर्य एक नहीं है। यह सिद्धांत भागवतकार को भी मान्य है, कि केवल कर्मो से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, मोक्ष के लिये ज्ञान की आवश्यकता रहती है। परंतु इसके अतिरिक्त, भागवत-पुराण का यह भी कथन है, कि यद्यपि ज्ञान और नैष्कर्म्य मोक्ष-दायक हों तथापि ये दोनों (अर्थात् गीताप्रतिपादित निष्काम कर्मयोग) भक्ति के बिना शोभा नहीं देते—' नैष्कर्म्यमप्यच्युत-भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्' (भाग. १२. १२. ५२ और १.२.१२)। इस प्रकार देखा जाय तो स्पष्ट प्रगट होता है, कि भागवतकार केवल भक्ति को ही सच्ची निष्ठा अर्थात् अन्तिम मोक्षप्रद स्थिति मानते हैं। भागवत का न तो यह कहना है, कि भगवद्भक्तों को ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करना ही नहीं चाहिये और न यह कहना है, कि करना ही चाहिये। भागवत पुराण का सिर्फ यह कहना है, कि निष्काम-कर्म करो अथवा न करो—ये सब भक्तियोग के ही भिन्न भिन्न प्रकार हैं (भाग. ३. २९. ७-१९,), भक्ति के अभाव से सब कर्मयोग पुनः संसार में अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालनेवाले हो जाते हैं (भाग. १ ५. ३४,३५)। सारांश यह है, कि भागवतकार का

सारा दारमदार भक्ति पर ही होने के कारण उन्होंने निष्काम-कर्मयोग को भी भक्तियोग में ही ढकेल दिया है और यह प्रतिपादन किया है, कि अकेली भक्ति ही सच्ची निष्ठा है। परन्तु भक्ति ही कुछ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसलिये भागवत के उपर्युक्त सिद्धान्त या परिभाषा को गीता में घुसेड़ देना वैसा ही अयोग्य है, जैसा कि आम में शरीफे की कलम लगाना। गीता इस बात को पूरी तरह मानती है, कि परमेश्वर के ज्ञान के सिवा और किसी भी अन्य उपाय से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए भक्ति एक सुगम मार्ग है। परन्तु इसी मार्ग के विषय में आग्रह न कर गीता यह भी कहती है, कि मोक्षप्राप्ति के लिये जिस ज्ञान की आवश्यकता है उसकी प्राप्ति, जिसे जो मार्ग सुगम हो वह उसी मार्ग से कर ले। गीता का तो मुख्य विषय यही है, कि अन्त में अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर मनुष्य कर्म करें अथवा न करें। इसलिये संसार में जीवन्मुक्त पुरुषों के जीवन व्यतीत करने के जो दो मार्ग देख पड़ते हैं—अर्थात् कर्म करना और कर्म छोड़ना—वहीं से गीता के उपदेश का आरम्भ किया गया है। इनमें से पहले मार्ग को गीता ने भागवतकार की नाईं 'भक्तियोग' यह नया नाम नहीं दिया है, किन्तु नारायणीय धर्म में प्रचलित प्राचीन नाम ही—अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करने को 'कर्मयोग' या 'कर्म-

निष्ठा ' और ज्ञानोत्तर कर्मों का त्याग करने को ' सांख्य ' या ' ज्ञाननिष्ठा ' यही नाम–गीता में स्थिर रखे गये हैं। गीता की इस परिभाषा को स्वीकार कर यदि विचार किया जाय, तो देख पड़ेगा कि ज्ञान और कर्म की बराबरी की, भक्ति नामक कोई तीसरी स्वतंत्र निष्ठा कदापि नहीं हो सकती। इसका कारण यह है, कि ' कर्म करना ' और 'न करना अर्थात् छोड़ना' (योग और सांख्य) ऐसे अस्तिनास्ति-रूप दो पक्षों के अतिरिक्त कर्म के विषय में तीसरा पक्ष ही अब बाकी नहीं रहता। इस लिये यदि गीता के अनुसार किसी भक्तिमान् पुरुष की निष्ठा के विषय में निश्चय करना हो, तो यह निर्णय केवल इसी बात से नहीं किया जा सकता, कि वह भक्ति-भाव में लगा हुआ है; परंतु इस बात का विचार किया जाना चाहिये, कि वह कर्म करता है या नहीं। भक्ति परमेश्वर-प्राप्ति का एक सुगम साधन है; और साधन के नाते से यदि भक्ति ही को 'योग' कहें (गी. १४. २६) तो वह अन्तिम 'निष्ठा' नहीं हो सकती। भक्ति के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर जो मनुष्य कर्म करेगा उसे 'कर्मनिष्ठ' और जो न करेगा उसे ' सांख्यनिष्ठ ' कहना चाहिये। पाँचवें अध्याय में भगवान् ने अपना यह अभिप्राय स्पष्ट बतला दिया है, कि उक्त दोनों निष्ठाओं में कर्म करने की निष्ठा अधिक श्रेयस्कर है परन्तु कर्म पर संन्यासमार्गवालों का यह महत्त्वपूर्ण

आक्षेप है, कि परमेश्वर का ज्ञान होने में कर्म से प्रतिबंध होता है, और परमेश्वर के ज्ञान बिना तो मोक्ष की प्राप्ति ही नहीं हो सकती; इसलिये कर्मों का त्याग ही करना चाहिये। पाँचवें अध्याय में सामान्यतः यह बतलाया गया है, कि उपर्युक्त आक्षेप असत्य है, और संन्यास-मार्ग से जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोग-मार्ग से भी मिलता है (गी. ५. ५)। परन्तु वहाँ इस सामान्य सिद्धान्त का कुछ भी खुलासा नहीं किया गया था। इसलिये अब भगवान् इस बचे हुए तथा महत्त्वपूर्ण विषय का विस्तृत निरूपण कर रहे हैं, कि कर्म करते रहने ही से परमेश्वर के ज्ञान की प्राप्ति हो कर मोक्ष किस प्रकार मिलता है। इसी हेतु से सातवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन से यह न कहकर, कि मैं तुझे भक्ति नामक एक स्वतंत्र तीसरी निष्ठा बतलाता हूँ, भगवान् यह कहते हैं कि—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

" हे पार्थ! मुझमें चित्त को स्थिर करके और मेरा आश्रय ले कर योग यानी कर्मयोग का आचरण करते समय, 'यथा' अर्थात् जिस रीति से मुझे सन्देह-रहित पूर्णतया जान सकेगा, वह (रीति तुझे बतलाता हूँ) सुन " (गीता. ७. १) और इसी को आगे के श्लोक में 'ज्ञान-विज्ञान' कहा है (गी. ७. २)। इनमें

से पहले अर्थात् ऊपर दिये गये "मय्यासक्तमनाः" श्लोक में 'योगं युंजन्' अर्थात् 'कर्मयोग का आचरण करते हुए'— ये पद अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण हैं । परन्तु किसी भी टीकाकार ने इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है । 'योगं' अर्थात् वही कर्मयोग है, कि जिसका वर्णन पहले छः अध्यायों में किया जा चुका है, और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए जिस प्रकार, विधि, या रीति से भगवान् का पूरा ज्ञान हो जायगा, उस रीति या विधि का वर्णन अब यानी सातवें अध्याय से आरम्भ करता हूँ—यही इस श्लोक का अर्थ है। अर्थात्, पहले छः अध्यायों का अगले अध्यायों से सम्बन्ध बतलाने के लिये यह श्लोक जान-बूझकर सातवें अध्याय के आरम्भ में रखा गया है । इसलिये, इस श्लोक के अर्थ की ओर ध्यान न दे कर यह कहना बिलकुल अनुचित है, कि 'पहले छः अध्यायों के बाद भक्ति-निष्ठा का स्वतंत्र रीति से वर्णन किया गया है ।' केवल इतना ही नहीं; बरन् यह भी कहा जा सकता है, कि इस श्लोक में 'योगं युंजन्' पद जानबूझकर इसी लिये रखे गये हैं, कि जिसमें कोई ऐसा विपरीत अर्थ न करने पावे । गीता के पहले पाँच अध्यायों में कर्म की आवश्यकता बतलाकर सांख्यमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है; और इसके बाद छठे अध्याय में पातंजलयोग के साधनों का वर्णन किया गया है—जो कर्मयोग में इन्द्रिय-

निग्रह के लिये आवश्यक है । परन्तु इतने ही से कर्मयोग का वर्णन पूरा नहीं हो जाता । इन्द्रिय-निग्रह मानो कर्मेंद्रियों से एक प्रकार की कसरत कराना है । यह सच है, कि इस अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को हम अपने अधीन रख सकते हैं; परंतु यदि मनुष्य की वासना ही बुरी होगी तो इन्द्रियों को काबू में रखने से कुछ भी लाभ नहीं होगा । क्योंकि देखा जाता है, कि दुष्ट वासनाओं के कारण कुछ लोग इसी इन्द्रिय-निग्रहरूप सिद्धि का जारण-मारण आदि दुष्कर्मों में उपयोग किया करते हैं । इसलिये छठे अध्याय ही में कहा है, कि इन्द्रिय-निग्रह के साथ ही वासना भी ' सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ' की नाईं शुद्ध हो जानी चाहिये (गी. ६. २९); और ब्रह्मात्मैक्यरूप परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप की पहचान हुए बिना वासना की इस प्रकार शुद्धता होना असम्भव है । तात्पर्य यह है, कि जो इन्द्रिय-निग्रह कर्मयोग के लिये आवश्यक है वह भले ही प्राप्त हो जाय, परन्तु ' रस ' अर्थात् विषयों की चाह मन में ज्यों की त्यों बनी ही रहती है । इस रस अथवा विषयवासना का नाश करने के लिये परमेश्वर-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान की ही आवश्यकता है । यह बात गीता के दूसरे अध्याय में कही गई है (गी. २. ५९) । इसलिये, कर्मयोग का आचरण करते हुए ही जिस रीति अथवा विधि से परमेश्वर का यह ज्ञान प्राप्त होता है, उसी विधि का अब भग-

वान् सातवें अध्याय से वर्णन करते हैं । 'कर्मयोग का आचरण करते हुए'--इस पद से यह भी सिद्ध होता है, कि कर्मयोग के जारी रहते ही इस ज्ञान की प्राप्ति कर लेनी है; इसके लिये कर्मों को छोड़ नहीं बैठना है; और इसीसे यह कहना भी निर्मूल हो जाता है, कि भक्ति और ज्ञान को कर्मयोग के बदले विकल्प मानकर इन्हीं दो स्वतंत्र मार्गों का वर्णन सातवें अध्याय से आगे किया गया है । गीता का कर्मयोग भागवतधर्म से ही लिया गया है; इस लिये कर्मयोग में ज्ञान-प्राप्ति की विधि का जो वर्णन है वह भागवतधर्म अथवा नारायणीय-धर्म में कही गई विधि का ही वर्णन है; और इसी अभिप्राय से शान्तिपर्व के अन्त में वैशंपायन ने जनमेजय से कहा है, कि "भगवद्गीता में प्रवृत्ति-प्रधान नारायणीय-धर्म और उसकी विधियों का वर्णन किया गया है ।" वैशंपायन के कथनानुसार इसीमें संन्यास-मार्ग की विधियों का भी अन्तर्भाव होता है । क्योंकि, यद्यपि इन दोनों मार्गों में 'कर्म करना अथवा कर्मों को छोड़ना' यही भेद है, तथापि दोनों को एक ही ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता है; इसलिये दोनों मार्गों में ज्ञान-प्राप्ति की विधियाँ एक ही सी होती हैं । परन्तु जब कि उपर्युक्त श्लोक में 'कर्मयोग का आचरण करते हुए,'—ऐसे प्रत्यक्ष पद रखे गये हैं, तब स्पष्ट रीति से यही सिद्ध होता है, कि गीता के सातवें और उसके अगले अध्यायों में ज्ञान-विज्ञान का

निरूपण मुख्यतः कर्मयोग की ही पूर्ति के लिये किया गया है, उसकी व्यापकता के कारण उसमें संन्यास-मार्ग की भी विधियों का समावेश हो जाता है; कर्मयोग को छोड़कर केवल सांख्यनिष्ठा के समर्थन के लिये यह ज्ञानविज्ञान नहीं बतलाया गया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है, कि सांख्य-मार्गवाले यद्यपि ज्ञान को महत्त्व दिया करते हैं, तथापि वे कर्म को या भक्ति को कुछ भी महत्त्व नहीं देते; और गीता में तो भक्ति सुगम तथा प्रधान मानी गई है—इतना ही क्यों; वरन् अध्यात्मज्ञान और भक्ति का वर्णन करते समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जगह जगह पर यही उपदेश दिया है, कि 'तू कर्म अर्थात् युद्ध कर' (गी ८. ७; ११. ३३; १६. २४; १८. ६)। इसलिये यही सिद्धान्त करना पड़ता है, कि गीता के सातवें और अगले अध्यायों में ज्ञान-विज्ञान का जो निरूपण है, वह पिछले छः अध्यायों में कहे गये कर्मयोग की पूर्ति और समर्थन के लिये ही बतलाया गया है; यहाँ केवल सांख्यनिष्ठा का या भक्ति का स्वतंत्र समर्थन विवक्षित नहीं है। ऐसा सिद्धान्त करने पर कर्म, भक्ति और ज्ञान गीता के तीन परस्पर-स्वतंत्र विभाग नहीं हो सकते। इतना ही नहीं; परन्तु अब यह विदित हो जायगा, कि यह मत भी (जिसे कुछ लोग प्रगट किया करते हैं) केवल काल्पनिक अतएव मिथ्या है। वे कहते हैं, कि 'तत्त्वमसि'

महावाक्य में तीन ही पद हैं और गीता के अध्याय भी अठारह हैं, इसलिये 'छः त्रिक अठारह' के हिसाब से गीता के छः छः अध्यायों के तीन समान विभाग करके पह. छः अध्यायों में 'त्वम्' पद का, दूसरे छः अध्यायों में 'तत्' पद का और तीसरे छः अध्यायों में 'असि' पद का विवेचन किया गया है। इस मत को काल्पनिक या मिथ्या कहने का कारण यही है, कि अब तो यह एक-देशीय पक्ष ही विशेष नहीं रहने पाता, जो यह कहे कि सारी गीता में केवल ब्रह्मज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के विवरण के सिवा गीता में और कुछ अधिक नहीं है।

इस प्रकार जब मालूम हो गया, कि भगवद्गीता में भक्ति और ज्ञान का विवेचन क्यों किया गया है, तब सातवें से सत्रहवें अध्याय के अन्त तक ग्यारहों अध्यायों की संगति सहज ही ध्यान में आ जाती है। पीछे छटे प्रकरण में बतला दिया गया है, कि जिस परमेश्वर-स्वरूप के ज्ञान से बुद्धि रसवर्ज और सम होती है, उस परमेश्वर-स्वरूप का विचार एक बार क्षराक्षर-दृष्टि से और फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दृष्टि से करना पड़ता है, और उससे अन्त में यह सिद्धान्त किया जाता है, कि जो तत्त्व पिंड में है वही ब्रह्मांड में है, इन्हीं विषयों का अब गीता में वर्णन है। परन्तु जब इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का विचार करने लगते हैं तब देख

पड़ता है, कि परमेश्वर का स्वरूप कभी तो व्यक्त (इन्द्रियगोचर) होता है और कभी अव्यक्त । फिर ऐसे प्रश्नों का भी विचार इस निरूपण में करना पड़ता है, कि इन दोनों स्वरूपों में श्रेष्ठ कौनसा है, और इस श्रेष्ठ स्वरूप से कनिष्ठ स्वरूप कैसे उत्पन्न होता है ? इसी प्रकार अब इस बात का भी निर्णय करना पड़ता है, कि परमेश्वर के पूर्ण ज्ञान से बुद्धि को स्थिर, सम और आत्मनिष्ठ करने के लिये परमेश्वर की जो उपासना करनी पड़ती है वह कैसी हो—अव्यक्त की उपासना करना अच्छा है, अथवा व्यक्त की ? और इसी के साथ साथ इस विषय की भी उपपत्ति बतलानी पड़ती है, कि परमेश्वर यदि एक है, तो व्यक्त सृष्टि में यह अनेकता क्यों देख पड़ती है ? इन सब विषयों को व्यवस्थित रीति से बतलाने के लिये यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कुछ आश्चर्य नहीं । हम यह नहीं कहते, कि गीता में भक्ति और ज्ञान का बिलकुल विवेचन ही नहीं है । हमारा केवल इतना ही कहना है, कि कर्म, भक्ति और ज्ञान को तीन विषय या निष्ठाएँ स्वतंत्र अर्थात् तुल्यबल की समझ कर, इन तीनों में गीता के अठारह अध्यायों के जो अलग अलग और बराबर बराबर हिस्से कर दिये जाते हैं, वैसा करना उचित नहीं है; किन्तु गीता में एकही निष्ठा का अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है; और सांख्यनिष्ठा, ज्ञानविज्ञान या भक्ति का जो

निरूपण भगवद्गीता में पाया जाता है, वह सिर्फ कर्मयोगनिष्ठा की पूर्ति और समर्थन के लिये आनुषंगिक है—किसी स्वतंत्र विषय का प्रतिपादन करने के लिये नहीं। अब यह देखना है, कि हमारे इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मयोग की पूर्ति और समर्थन के लिये बतलाये गये ज्ञान-विज्ञान का विभाग गीता के अध्यायों के क्रमानुसार किस प्रकार किया गया है।

सातवें अध्याय में क्षराक्षर-सृष्टि के अर्थात् ब्रह्माण्ड के विचार को आरम्भ करके भगवान् ने प्रथम अव्यक्त और अक्षर परब्रह्म के ज्ञान के विषय में यह कहा है, कि जो इस सारी सृष्टि को—पुरुष और प्रकृति को—मेरे ही पर और अपर स्वरूप जानते हैं, और जो इस माया के परे के अव्यक्त रूप को पहचान कर मुझे भजते हैं, उनकी बुद्धि सम हो जाती है तथा उन्हे मैं सद्गति देता हूँ; और फिर उन्होंने अपने स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है, कि सब देवता, सब प्राणी, सब यज्ञ, सब कर्म और सब अध्यात्म मैं ही हूँ, मेरे सिवा इस संसार में अन्य कुछ भी नहीं है। इसके बाद **आठवें अध्याय** के आरम्भ में अर्जुन ने अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव और अधिभूत शब्दों का अर्थ पूछा है। इन शब्दों का अर्थ बतलाकर भगवान् ने कहा है, कि इस प्रकार जिसने मेरा स्वरूप पहचान लिया, उसे मैं कभी नहीं भूलता। इसके बाद इन विषयों का संक्षेप में विवेचन है, कि

सारे जगत् में अविनाशी या अक्षर तत्त्व कौनसा है; सब संसार का संहार कैसे और कब होता है; जिस मनुष्य को परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसको कौनसी गति प्राप्त होती है; और ज्ञान के बिना केवल काम्यकर्म करनेवाले को कौनसी गति मिलती है। **नवें अध्याय** में भी यही विषय है। इसमें भगवान् ने उपदेश किया है, कि जो अव्यक्त परमेश्वर इस प्रकार चारों ओर व्याप्त है उसके **व्यक्त** स्वरूप की **भक्ति** के द्वारा पहचान करके अनन्य भाव से उसकी शरण में जाना ही ब्रह्मप्राप्ति का प्रत्यक्षावगम्य और सुगम मार्ग अथवा राजमार्ग है, और इसीको राजविद्या या राजगुह्य कहते हैं। तथापि इन तीनों अध्यायों में बीच बीच में भगवान् कर्ममार्ग का यह प्रधान तत्त्व बतलाना नहीं भूले हैं, कि ज्ञानवान् या भक्तिमान् पुरुषों को कर्म करते ही रहना चाहिये। उदाहरणार्थ, आठवें अध्याय में कहा है— "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च"—इसलिये सदा अपने मन में मेरा स्मरण रख और युद्ध कर (८ ७); और नवें अध्याय में कहा है कि "सब कर्मों को मुझे अर्पण कर देने से उनके शुभाशुभ फलों से तू मुक्त हो जायगा" (९. २७, २८)। ऊपर भगवान् ने जो यह कहा है कि सारा संसार मुझसे उत्पन्न हुआ है और वह मेरा ही रूप है; वही बात **दसवें अध्याय** में ऐसे अनेक उदाहरण देकर अर्जुन को भली भाँति

समझा दी है कि 'संसार की प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु मेरी ही विभूति है।' अर्जुन के प्रार्थना करने पर **ग्यारहवें अध्याय** में भगवान् ने उसे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाया है, और उसकी दृष्टि के सन्मुख इस बात की सत्यता का अनुभव करा दिया है, कि मैं (परमेश्वर) ही सारे संसार में चारों ओर व्याप्त हूँ। परन्तु इस प्रकार विश्वरूप दिखला कर, और अर्जुन के मन में यह विश्वास करा के, कि 'सब कर्मों का करानेवाला मैं ही हूँ' भगवान् ने तुरन्त ही कहा है कि "सच्चा कर्त्ता तो मैं ही हूँ, तू निमित्तमात्र है, इसलिये निःशंक होकर युद्ध कर" (गी. ११. ३३)। यद्यपि इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि संसार में एक ही परमेश्वर है; तो भी अनेक स्थानों में परमेश्वर के अव्यक्त स्वरूप को ही प्रधान मान कर यह वर्णन किया गया है कि "मैं अव्यक्त हूँ, परंतु मुझे मूर्ख लोग व्यक्त समझते हैं" (७.२४); "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" (८. ११)—जिसे वेदवेत्तागण अक्षर कहते हैं; "अव्यक्त को ही अक्षर कहते हैं" (८. २१); "मेरे यथार्थ स्वरूप को न पहचान कर मूर्ख लोग मुझे देहधारी मानते हैं" (९. ११); "विद्याओं में अध्यात्म-विद्या श्रेष्ठ" (१०. ३२); और अर्जुन के कथनानुसार 'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्" (११. ३७)। इसी लिये **बारहवें अध्याय** के आरम्भ में अर्जुन ने पूछा है, कि किस

परमेश्वर की—व्यक्त की या अव्यक्त की—उपासना करनी चाहिये? तब भगवान् ने अपना यह मत प्रदर्शित किया है, कि जिस व्यक्त स्वरूप की उपासना का वर्णन नवें अध्याय में हो चुका है वही सुगम है; और दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का जैसा वर्णन है वैसा ही परम भगवद्भक्तों की स्थिति का वर्णन करके यह अध्याय पूरा कर दिया है।

कुछ लोगों की राय है, कि यद्यपि गीता के कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीन स्वतंत्र भाग न भी किये जा सकें, तथापि सातवें अध्याय से ज्ञान-विज्ञान का जो विषय आरम्भ हुआ है उसके भक्ति और ज्ञान ये दो पृथक् भाग सहज ही हो जाते हैं। और, वे लोग कहते हैं कि द्वितीय षडध्यायी भक्तिप्रधान है। परन्तु कुछ विचार करने के उपरान्त किसीको भी ज्ञात हो जावेगा, कि यह मत भी ठीक नहीं है। कारण यह है, कि सातवें अध्याय का आरम्भ क्षराक्षर-सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान से किया गया है, न कि भक्ति से। और, यदि कहा जाय, कि बारहवें अध्याय में भक्ति का वर्णन पूरा हो गया है, तो हम देखते हैं, कि अगले अध्यायों में ठौर ठौर पर भक्ति के विषय में बारम्बार यह उपदेश किया गया है, कि जो बुद्धि के द्वारा मेरे स्वरूप को नहीं जान सकता, वह श्रद्धापूर्वक "दूसरों के वचनों पर विश्वास रख कर मेरा ध्यान करे" (गी. १३. २५), "जो मेरी अव्यभिचारिणी

भक्ति करता है वही ब्रह्मभूत होता है" (१४. २६), "जो मुझे ही पुरुषोत्तम जानता है वह मेरी ही भक्ति करता है" (गी. १५. १९); और अन्त में अठारहवें अध्याय में पुनः भक्ति का ही इस प्रकार उपदेश किया है, कि "सब धर्मों को छोड़ कर तू मुझको भज" (१८.६६)। इसलिये हम यह नहीं कह सकते, कि केवल दूसरी षडध्यायी ही में भक्ति का उपदेश है। इसी प्रकार, यदि भगवान् का यह अभिप्राय होता, कि ज्ञान से भक्ति भिन्न है, तो चौथे अध्याय में ज्ञान की प्रस्तावना करके (४. ३४–३७), सातवें अध्याय के अर्थात् उपर्युक्त आक्षेपकों के मतानुसार भक्तिप्रधान षडध्यायी के आरम्भ में, भगवान् ने यह न कहा होता, कि अब मैं तुझे वही 'ज्ञान और विज्ञान' बतलाता हूँ (७. २)। यह सच है, कि इससे आगे के नवें अध्याय में राजविद्या और राजगुह्य अर्थात् प्रत्यक्षावगम्य भक्तिमार्ग बतलाया है; परन्तु अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया है, कि 'तुझे विज्ञानसहित ज्ञान बतलाता हूँ' (९. १)। इससे स्पष्ट प्रगट होता है, कि गीता में भक्ति का समावेश ज्ञान ही में किया गया है। दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है; परन्तु ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने उसे ही 'अध्यात्म' कहा है (११.१); और ऊपर यह बतला ही दिया गया है, कि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का

वर्णन करते समय बीच बीच में व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप की श्रेष्ठता की भी बातें आ गई हैं । इन्हीं सब बातों से बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने यह प्रश्न किया है, कि उपासना व्यक्त परमेश्वर की की जावे या अव्यक्त की ? तब यह उत्तर दे कर, कि अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना अर्थात् भक्ति सुगम है, भगवान् ने तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का 'ज्ञान' बतलाना आरम्भ कर दिया और सातवें अध्याय के आरम्भ के समान चौदहवें अध्याय के आरम्भ में भी कहा है, कि "परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्" फिर से मैं तुझे वही 'ज्ञान-विज्ञान' पूरी तरह से बतलाता हूँ (१४.१)। इस ज्ञान का वर्णन करते समय भक्ति का सूत्र या सम्बन्ध भी टूटने नहीं पाया है । इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है, कि भगवान् का उद्देश भक्ति और ज्ञान दोनों को पृथक् पृथक् रीति से बतलाने का नहीं था; किन्तु सातवें अध्याय के आरम्भ में जिस ज्ञान-विज्ञान का आरम्भ किया गया है, उसीमें दोनों एकत्र गूंथ दिये गये हैं । भक्ति भिन्न है और ज्ञान भिन्न है-यह कहना उस उस सम्प्रदाय के अभिमानियों की नासमझी है; वास्तव में गीता का अभिप्राय ऐसा नहीं है । अव्यक्तोपासना में (ज्ञान-मार्ग में) अध्यात्म-विचार से परमेश्वर के स्वरूप का जो ज्ञान प्राप्त कर लेना पड़ता है, वही भक्ति-मार्ग

में भी आवश्यक है; परन्तु व्यक्तोपासना में (भक्तिमार्ग में) आरम्भ में, वह ज्ञान दूसरों से श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है (१३. २५), इसलिये भक्तिमार्ग प्रत्यक्षावगम्य और सामान्यतः सभी लोगों के लिये सुखकारक है (९. २), और ज्ञान-मार्ग (या अव्यक्तोपासना) क्लेशमय (१२.५) है— बस, इसके अतिरिक्त इन दो साधनों में गीता की दृष्टि से और कुछ भी भेद नहीं है। परमेश्वर-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके बुद्धि को सम करने का जो कर्मयोग का उद्देश या साध्य है, वह इन दोनों साधनों के द्वारा एकसा ही प्राप्त होता है। इसलिये चाहे व्यक्तोपासना कीजिये या अव्यक्तोपासना, भगवान् को दोनों एकही समान ग्राह्य हैं। तथापि ज्ञानी पुरुष को भी उपासना की थोड़ी-बहुत आवश्यकता होती ही है, इसलिये चतुर्विध भक्तों में भक्तिमान् ज्ञानी को श्रेष्ठ कह कर (७.१७) भगवान् ने ज्ञान और भक्ति के विरोध को हटा दिया है। कुछ भी हो, परंतु जब कि ज्ञानविज्ञान का वर्णन किया जा रहा है, तब प्रसंगानुसार एक-आध अध्याय में व्यक्तोपासना का, और किसी दूसरे अध्याय में अव्यक्तोपासना का वर्णन हो जाना अपरिहार्य है। परन्तु इतने ही से यह सन्देह न हो जावे, कि ये दोनों पृथक् पृथक् हैं। इसलिये परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त की श्रेष्ठता, और

अव्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय भक्ति की आवश्यकता बतला देना भी भगवान् नहीं भूले हैं। अब विश्वरूप के, और विभूतियों के, वर्णन में ही तीन चार अध्याय लग गये हैं; इस लिये यदि इन तीन चार अध्यायों को (षडध्यायी को नहीं) स्थूल मान से 'भक्तिमार्ग' नाम देना ही किसी को पसन्द हो, तो ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं। परन्तु कुछ भी कहिये, यह तो निश्चित रूप से मानना पडेगा, कि गीता में भक्ति और ज्ञान को न तो पृथक् किया है और न इन दोनों मार्गों को स्वतंत्र कहा है। संक्षेप में उक्त निरूपण का यही भावार्थ ध्यान में रहे, कि कर्मयोग में जिस साम्य बुद्धि को प्रधानता दी जाती है, उसकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर के सर्वव्यापी स्वरूप का ज्ञान होना चाहिये; फिर, यह ज्ञान चाहे व्यक्त की उपासना से हो और चाहे अव्यक्त की—सुगमता के अतिरिक्त इनमें अन्य कोई भेद नहीं है; और गीता में सातवें से लगाकर सत्रहवें अध्याय तक सब विषयों को 'ज्ञान-विज्ञान' या 'अध्यात्म' यही एक नाम दिया गया है।

जब भगवान् ने अर्जुन के 'चर्मचक्षुओं' को विश्वरूप-दर्शन के द्वारा यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि परमेश्वर ही सारे **ब्रह्मांड** में या क्षराक्षर-सृष्टि में समाया हुआ है, तब **तेरहवें अध्याय** में ऐसा क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार बतलाया है, कि यही परमेश्वर **पिंड** में अर्थात् मनुष्य के शरीर में या आत्मा के

रूप से निवास करता है, और इस आत्मा का अर्थात् क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही परमेश्वर का (परमात्मा का) भी ज्ञान है। प्रथम परमात्मा का अर्थात् परब्रह्म का ' अनादिमत्परं ब्रह्म " इत्यादि प्रकार से, उपनिषदों के आधार से, वर्णन करके आगे बतलाया गया है, कि यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार 'प्रकृति' और 'पुरुष' नामक सांख्यविवेचन में अंतर्भूत हो गया है; और अन्त में यह वर्णन किया गया है, कि जो 'प्रकृति' और 'पुरुष' के भेद को पहचान कर अपने 'ज्ञान-चक्षुओं' के द्वारा सर्वगत निर्गुण परमात्मा को जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। परन्तु उसमें भी कर्मयोग का यह सूत्र स्थिर रखा गया है, कि 'सब काम प्रकृति करती है, आत्मा कर्त्ता नहीं है—यह जानने से कर्म बंधक नहीं होते' (१३. २९); और भक्ति का " ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति " (१३. २४) यह सूत्र भी कायम है। **चौदहवें अध्याय** में इसी ज्ञान का वर्णन करते हुए सांख्यशास्त्र के अनुसार बतलाया गया है, कि सर्वत्र एक ही आत्मा या परमेश्वर के होने पर भी प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुणों के भेदों के कारण संसार में वैचित्र्य उत्पन्न होता है। आगे कहा गया है, कि जो मनुष्य प्रकृति के इस खेल को जानकर और अपने को कर्त्ता न समझ भक्तियोग से परमेश्वर की सेवा करता है, वही सच्चा त्रिगुणातीत या मुक्त है। अन्त में अर्जुन के प्रश्न करने पर स्थित-

प्रश्न और भक्तिमान् पुरुष की स्थिति के समान ही त्रिगुणातीत की स्थिति का वर्णन किया गया है । श्रुति-ग्रन्थों में परमेश्वर का कहीं कहीं वृक्षरूप से जो वर्णन पाया जाता है, उसीका **पन्द्रहवें अध्याय** के आरम्भ में वर्णन करके भगवान् ने बतलाया है, कि जिसे सांख्य-वादी 'प्रकृति का पसारा' कहते हैं वही यह अश्वत्थ वृक्ष है; और अन्त में भगवान् ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है, कि क्षर और अक्षर दोनों के परे जो पुरुषोत्तम है उसे पहचान कर उसकी ' भक्ति ' करने से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है—तू भी ऐसा ही कर । **सोलहवें अध्याय** में कहा गया है, कि प्रकृतिभेद के कारण संसार में जैसा वैचित्र्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी दो भेद —अर्थात् दैवी सम्पत्तिवाले और आसुरी सम्पत्तिवाले—होते हैं। इसके बाद उनके कर्मों का वर्णन किया गया है और यह बतलाया गया है, कि उन्हें कौनसी गति प्राप्त होती है । अर्जुन के पूछने पर **सत्रहवें अध्याय** में इस बात का विवेचन किया गया है, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों की विषमता के कारण उत्पन्न होनेवाला वैचित्र्य श्रद्धा, दान, यज्ञ, तप इत्यादि में भी देख पड़ता है । इसके बाद यह बतलाया गया है कि ' ॐ तत्सत् ' इस ब्रह्म निर्देश के ' तत् ' पद का अर्थ ' निष्काम-बुद्धि से किया गया कर्म ' और ' सत् ' पद

का अर्थ 'अच्छा परन्तु काम्य-बुद्धि से किया गया कर्म' होता है; और इस अर्थ के अनुसार वह सामान्य ब्रह्मनिर्देश भी कर्म-योग-मार्ग के ही अनुकूल है। सारांश-रूप से सातवें अध्याय से ले कर सत्रहवें अध्याय तक ग्यारह अध्यायों का तात्पर्य यही है, कि संसार में चारों ओर एकही परमेश्वर व्याप्त है—फिर तुम चाहे उसे विश्वरूपदर्शन के द्वारा पहचानो, चाहे ज्ञानचक्षु के द्वारा; शरीर में क्षेत्रज्ञ भी वही है और क्षर-सृष्टि में अक्षर भी वही है; वही दृश्य सृष्टि में व्याप्त है और उसके बाहर अथवा परे भी है; यद्यपि वह एक है तो भी प्रकृति के गुण-भेद के कारण व्यक्त सृष्टि में नानात्व या वैचित्र्य देख पड़ता है; और इस माया से अथवा प्रकृति के गुण-भेद के कारण ही दान, श्रद्धा, तप, यज्ञ, धृति, ज्ञान इत्यादि तथा मनुष्यों में भी अनेक भेद हो जाते हैं; परन्तु इन सब भेदों में जो एकता है उसे पहचान कर, उस एक और नित्य-तत्त्व की उपासना के द्वारा—फिर वह उपासना चाहे व्यक्त की हो अथवा अव्यक्त की—प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि को स्थिर और सम करे तथा उस निष्काम, सात्त्विक अथवा साम्यबुद्धि से ही संसार में स्वधर्मानुसार प्राप्त सब व्यवहार केवल कर्त्तव्य समझ कर किया करे। इस ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन, इस ग्रन्थ के अर्थात् गीतारहस्य के पिछले प्रकरणों मे, विस्तृत रीति से किया गया है; इसलिये हमनें सातवें अध्याय से लगाकर सत्रहवें अध्याय

सक का सारांश ही इस प्रकरण में दे दिया है–अधिक विस्तार नहीं किया। हमारा प्रस्तुत उद्देश केवल गीता के अध्यायों की संगति देखना ही है, अतएव उस काम के लिये जितना भाग आवश्यक है उतने का ही हमने यहाँ उल्लेख किया है।

कर्म-योग-मार्ग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है, इसलिये इस बुद्धि को शुद्ध और सम करने के लिये परमेश्वर की सर्वव्यापकता अर्थात् सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्य का जो 'ज्ञान-विज्ञान' आवश्यक होता है, उसका वर्णन आरम्भ करके अब तक इस बात का निरूपण किया गया, कि भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार व्यक्त या अव्यक्त की उपासना के द्वारा जब यह ज्ञान हृदय में भिद जाता है, तब बुद्धि को स्थिरता और समता प्राप्त हो जाती है, और कर्मों का त्याग न करने पर भी अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसी के साथ क्षराक्षर और क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का भी विचार किया गया है। परन्तु भगवान् ने निश्चितरूप से कह दिया है, कि इस प्रकार बुद्धि के सम हो जाने पर भी कर्मों का त्याग करने की अपेक्षा फलाशा को छोड़ देना और लोकसंग्रह के लिये आमरणान्त कर्म ही करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गी. ५. २)। अतएव स्मृतिग्रन्थों में वर्णित 'संन्यासाश्रम' इस कर्मयोग में नहीं होता, और इससे मन्वादि स्मृति ग्रंथों का तथा इस कर्मयोग का विरोध हो जाना संभव है। इसी शंका को मन में ला कर

अठारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने 'संन्यास' और 'त्याग' का रहस्य पूछा है। भगवान् इस विषय में यह उत्तर देते हैं, कि संन्यास का मूल अर्थ 'छोड़ना' है इसलिये, और कर्म-योग-मार्ग में यद्यपि कर्मों को नहीं छोड़ते तथापि फलाशा को छोड़ते है इसलिये, कर्मयोग तत्त्वतः संन्यास ही होता है; क्योंकि यद्यपि संन्यासी का भेष धारण करके भिक्षा न माँगी जावे तथापि वैराग्य का और संन्यास का जो तत्त्व स्मृतियों में कहा गया है—अर्थात् बुद्धि का निष्काम होना—वह कर्मयोग में भी रहता है। परन्तु फलाशा के छूटने से स्वर्ग-प्राप्ति की भी आशा नहीं रहती; इसलिये यहाँ एक और शंका उपस्थित होती है, कि ऐसी दशा में यज्ञयागादिक श्रौत कर्म करने की क्या आवश्य-कता है? इस पर भगवान् ने अपना यह निश्चित मत बत-लाया है, कि उपर्युक्त कर्म चित्त-शुद्धिकारक हुआ करते हैं इसलिये उन्हें भी अन्य कर्मों के साथ ही निष्काम-बुद्धि से करते रहना चाहिये, और इस प्रकार लोक-संग्रह के लिये यज्ञचक्र को हमेशा जारी रखना चाहिये। अर्जुन के प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देने पर प्रकृति-स्वभावानुरूप ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि और सुख के जो सात्त्विक, तामस और राजस भेद हुआ करते हैं उनका निरूपण करके गुण-वैचित्र्य का विषय पूरा किया गया है। इसके बाद निश्चय किया गया है कि निष्काम-कर्म, निष्काम-कर्त्ता,

आसक्तिरहित बुद्धि, अनासक्ति से होनेवाला सुख और 'अविभक्तं विभक्तेषु' इस नियम के अनुसार होनेवाला आत्मैक्यज्ञान ही सात्त्विक या श्रेष्ठ है। इसी तत्त्व के अनुसार चातुर्वर्ण्य की भी उपपत्ति बतलाई गई है और कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्य-धर्म से प्राप्त हुए कर्मों को सात्त्विक अर्थात् निष्काम-बुद्धि से केवल कर्त्तव्य मानकर करते रहने से ही मनुष्य इस संसार में कृतकृत्य हो जाता है, और अन्त में उसे शान्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अन्त में भगवान् ने अर्जुन को भक्तिमार्ग का यह निश्चित उपदेश किया है, कि कर्म तो प्रकृति का धर्म है, इसलिये यदि तू उसे छोड़ना चाहे तो भी वह न छूटेगा; अतएव यह समझ कर, कि सब करानेवाला और करनेवाला परमेश्वर ही है, तू उसकी शरण में जा और सब काम निष्काम-बुद्धि से करता जा; मैं ही वह परमेश्वर हूँ, मुझ पर विश्वास रख; मुझे भज; मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा। ऐसा उपदेश करके भगवान् ने गीता के प्रवृत्तिप्रधान-धर्म का निरूपण पूरा किया है। सारांश यह है कि,इस लोक और परलोक दोनों का विचार करके ज्ञानवान् एवं शिष्ट जनों ने 'सांख्य' और 'कर्मयोग' नामक जिन दो निष्ठाओं को प्रचलित किया है, उन्हींसे गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ है; इन दोनों में से पाँचवें अध्याय के निर्णयानुसार जिस कर्मयोग की योग्यता अधिक है, जिस कर्मयोग की

सिद्धि के लिये छटे अध्याय में पातञ्जलयोग का वर्णन किया है, जिस कर्मयोग के आचरण की विधि का वर्णन अगले ग्यारह अध्यायों में (७ से १७ तक) पिण्ड-ब्रह्माण्ड-ज्ञानपूर्वक विस्तार से किया गया है और यह कहा गया है, कि उस विधि से आचरण करने पर परमेश्वर का पूरा ज्ञान हो जाता है, एवं अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसी कर्मयोग का समर्थन अठारहवें अध्याय में अर्थात अन्त में भी है; और मोक्षरूपी आत्मकल्याण के आडे न आकर परमेश्वरार्पणपूर्वक केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से स्वधर्मानुसार लोकसंग्रह के लिये सब कर्मों को करते रहने का जो यह योग या युक्ति है, उसकी श्रेष्ठता का यह भगवत्प्रणीत उपपादन जब अर्जुन ने सुना, तभी उसने संन्यास लेकर भिक्षा माँगने का अपना पहला विचार छोड़ दिया और अब--केवल भगवान् के कहने ही से नहीं, किन्तु--कर्माकर्म-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो जाने के कारण, वह स्वयं अपनी इच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त हो गया। अर्जुन को युद्ध मे प्रवृत्त करने के लिये ही गीता का आरम्भ हुआ है और उसका अन्त भी वैसा ही हुआ है (गी. १८ ७३)।

गीता के अठारह अध्यायों की जो संगति ऊपर बतलाई गई है, उससे यह प्रगट हो जायगा कि गीता कुछ कर्म, भक्ति और ज्ञान तीन स्वतंत्र निष्ठाओं की खिचड़ी नहीं है; अथवा वह सूत,

रेशम और जरी के चिथड़ों की सिली हुई गुदड़ी नहीं है; वरन् देख पड़ेगा कि सूत, रेशम और जरी के तानेबाने को यथास्थान में योग्य रीति से एकत्र करके कर्मयोग नामक मूल्यवान् और मनोहर गीतारूपी वस्त्र आदि से अन्त तक 'अत्यन्त योगयुक्त चित्त से' एकसा बुना गया है। यह सच है, कि निरूपण की पद्धति सम्वादात्मक होने के कारण शास्त्रीय पद्धति की अपेक्षा वह जरा ढीली है। परन्तु यदि इस बात पर ध्यान दिया जावे, कि सम्वादात्मक निरूपण से शास्त्रीय पद्धति की रुक्षता छूट गई है और उसके बदले गीता में सुलभता और प्रेमरस भर गया है, तो शास्त्रीय पद्धति के हेतु-अनुमानों की केवल बुद्धि-ग्राह्य तथा नीरस कटकट छूट जाने का किसी को भी तिलमात्र बुरा न लगेगा। इसी प्रकार यद्यपि गीता-निरूपण की पद्धति पौराणिक या सम्वादात्मक है, तो भी ग्रन्थ-परीक्षण की मीमांसकों की सब कसौटियों के अनुसार गीता का तात्पर्य निश्चित करने में कुछ भी बाधा नहीं होती। यह बात इस ग्रन्थ के कुल विवेचन से मालूम हो जायगी। गीता का **आरंभ** देखा जाय तो मालूम होगा, का अर्जुन क्षात्र-धर्म के अनुसार लड़ाई करने के लिये चला था; जब धर्माधर्म की विचिकित्सा के चक्कर में पड़ गया, तब उसे वेदान्तशास्त्र के आधार पर प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोग-धर्म का उपदेश करने के लिये गीता प्रवृत्त हुई है, और

हमने पहले ही प्रकरण में यह बतला दिया है, कि गीता के **उपसंहार** और **फल** दोनों इसी प्रकार के अर्थात् प्रवृत्तिप्रधान ही हैं। इसके बाद हमने बतलाया है, कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है, उसमें 'तू युद्ध अर्थात् कर्म ही कर' ऐसा दस–बारह बार स्पष्ट रीति से और पर्याय से तो अनेक बार (अभ्यास) बतलाया है; और हमने यह भी बतलाया है, कि संस्कृत–साहित्य में कर्मयोग की उपपत्ति बतलानेवाला गीता के सिवा दूसरा ग्रंथ नहीं है, इसलिये **अभ्यास** और **अपूर्वता** इन दो प्रमाणों से गीता में कर्मयोग की प्रधानता ही अधिक व्यक्त होती है। मीमांसकों ने ग्रंथ-तात्पर्य का निर्णय करने के लिये जो कसौटियाँ बतलाई हैं, उनमें से **अर्थवाद** और **उपपत्ति** ये दोनों शेष रह गई थी। इनके विषय में पहले पृथक् पृथक् प्रकरणों में और अब गीता के अध्यायों के क्रमानुसार इस प्रकरण में जो विवेचन किया गया है, उससे यही निष्पन्न हुआ है, कि गीता में अकेला 'कर्मयोग' ही प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ग्रन्थ-तात्पर्य निर्णय के मीमांसकों के सब नियमों का उपयोग करने पर यही बात निर्विवाद सिद्ध होती है, कि गीता-ग्रन्थ में ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्मयोग ही का प्रतिपादन किया गया है। अब इसमें सन्देह नहीं, कि इसके अतिरिक्त शेष सब गीता-तात्पर्य केवल साम्प्रदायिक हैं। यद्यपि

ये सब तात्पर्य साम्प्रदायिक हों; तथापि यह प्रश्न किया जा सकता है, कि कुछ लोगों को गीता में साम्प्रदायिक अर्थ—विशेषतः संन्यास-प्रधान अर्थ—ढूंढ़ने का मौक़ा कैसे मिल गया? जब तक इस प्रश्न का भी विचार न हो जायगा, तब तक यह नहीं कहा जा सकता, कि साम्प्रदायिक अर्थों की चर्चा पूरी हो चुकी। इसलिये अब संक्षेप में इसी बात का विचार किया जायगा, कि ये साम्प्रदायिक टीकाकार गीता का संन्यासप्रधान अर्थ कैसे कर सके; और फिर यह प्रकरण पूरा किया जायगा।

हमारे शास्त्रकारों का यह सिद्धान्त है, कि चूँकि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है, इसलिये पिण्ड-ब्रह्मांड के तत्त्व को पहचानना ही उसका मुख्य काम या पुरुषार्थ है; और इसीको धर्मशास्त्र में 'मोक्ष' कहते हैं। परन्तु दृश्य सृष्टि के व्यवहारों की ओर ध्यान दे कर शास्त्रों में ही यह प्रतिपादन किया गया है, कि पुरुषार्थ चार प्रकार के हैं-जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह पहले ही बतला दिया गया है, कि इस स्थान पर 'धर्म' शब्द का अर्थ व्यावहारिक सामाजिक और नैतिक धर्म समझना चाहिये। अब पुरुषार्थ को इस प्रकार चतुर्विध मानने पर, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो जाता है, कि पुरुषार्थ के चारों अङ्ग या भाग परस्पर पोषक हैं या नहीं? इसलिये स्मरण रहे, कि पिण्ड में और ब्रह्मांड में जो तत्त्व है, उसका ज्ञान हुए बिना मोक्ष नहीं मिलता, फिर

वह ज्ञान किसी भी मार्ग से प्राप्त हो । इस सिद्धान्त के विषय में शाब्दिक मत-भेद भले ही हो, परन्तु तत्त्वतः कुछ मत-भेद नहीं है । निदान गीताशास्त्र को तो यह सिद्धान्त सर्वथैव ग्राह्य है । इसी प्रकार गीता को यह तत्त्व भी पूर्णतया मान्य है, कि यदि अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों की प्राप्ति करना हो तो वे भी नीति-धर्म से ही प्राप्त किये जावें । अब केवल धर्म (अर्थात् व्यावहारिक चातुर्वर्ण्य-धर्म) और मोक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय करना शेष रह गया । इनमें से धर्म के विषय में तो यह सिद्धान्त सभी पक्षों को मान्य है, कि धर्म के द्वारा चित्त को शुद्ध किये विना मोक्ष की बात ही करना व्यर्थ है। परन्तु इस प्रकार चित्त को शुद्ध करने के लिये बहुत समय लगता है; इसलिये मोक्ष की दृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्ध होता है, कि तत्पूर्व काल में पहले पहले संसार के सब कर्त्तव्यों को 'धर्म से' पूरा कर लेना चाहिये (मनु. ६. ३५,३७) । संन्यास का अर्थ है 'छोड़ना'; और जिसने धर्म के द्वारा इस संसार में कुछ प्राप्त या सिद्ध नहीं किया है, वह त्याग ही क्या करेगा ? अथवा जो 'प्रपञ्च' (सांसारिक कर्म) ही ठीक ठीक साध नहीं सकता, उस 'अभागी' से परमार्थ भी कैसे ठीक सधेगा (दास. १२. १. १-१० और १२ ८. २१-३१) ? किसी का अन्तिम उद्देश या साध्य चाहे सांसारिक हो अथवा

पारमार्थिक, परन्तु यह बात प्रगट है, कि उसकी सिद्धि के लिये दीर्घ प्रयत्न, मनोनिग्रह और सामर्थ्य इत्यादि गुणों की एक ही सी आवश्यकता होती है; और जिसमें ये गुण विद्यमान नहीं होते, उसे किसी भी उद्देश या साध्य की प्राप्ति नहीं होती। इस बात को मान लेने पर भी कुछ लोग इससे आगे बढ़ कर कहते हैं, कि जब दीर्घ प्रयत्न और मनोनिग्रह के द्वारा आत्मज्ञान हो जाता है, तब अन्त में संसार के विषयोपभोग-रूपी सब व्यवहार निस्सार प्रतीत होने लगते हैं; और जिस प्रकार साँप अपनी निरुपयोगी केंचुली को छोड देता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सब सांसारिक विषयों को छोड़ केवल परमेश्वर–स्वरूप में ही लीन हो जाया करते हैं (बृ. ४. ४. ७)। जीवनक्रमण करने के इस मार्ग में चूँकि सब व्यवहारों का त्याग कर अन्त में केवल ज्ञान को ही प्रधानता दी जाती है, अतएव इसे ज्ञाननिष्ठा, सांख्यनिष्ठा अथवा सब व्यवहारों का त्याग करने से संन्यास भी कहते हैं। परन्तु इसके विपरीत गीताशास्त्र में कहा है, कि आरम्भ में चित्त की शुद्धता के लिये 'धर्म' की आवश्यकता तो है ही, परन्तु आगे चित्त की शुद्धि होने पर भी–स्वयं अपने लिये विषयोपभोग-रूपी व्यवहार चाहे तुच्छ हो जावें तो भी–उन्हीं व्यवहारों को केवल स्वधर्म और कर्त्तव्य समझ कर, लोक-संग्रह के लिये निष्काम बुद्धि से करते रहना आवश्यक है।

यदि ज्ञानी मनुष्य ऐसा न करेंगे तो लोगों को आदर्श बतलाने-वाला कोई भी न रहेगा, और फिर इस संसार का नाश हो जायगा। इस कर्म-भूमि में किसी से भी कर्म छूट नहीं सकते; और यदि बुद्धि निष्काम हो जावे तो कोई भी कर्म मोक्ष के आड़े नहीं आ सकते। इसलिये संसार के कर्मों का त्याग न कर सब व्यवहारों को विरक्त बुद्धि से अन्य जनों की नाई मृत्यु पर्यन्त करते रहना ही ज्ञानी पुरुष का भी कर्त्तव्य हो जाता है। गीता-प्रतिपादित जीवन व्यतीत करने के इस मार्ग को ही कर्मनिष्ठा या कर्मयोग कहते हैं। परन्तु यद्यपि कर्मयोग इस प्रकार श्रेष्ठ निश्चित किया गया है, तथापि उसके लिये गीता में संन्यासमार्ग की कहीं भी निन्दा नहीं की गई। उलटा, यह कहा गया है, कि वह भी मोक्ष का देनेवाला है। स्पष्ट ही है, कि सृष्टि के आरम्भ में सनत्कुमार प्रभृति ने, और आगे चल कर शुक-याज्ञ-वल्क्य आदि ऋषियों ने, जिस मार्ग को स्वीकार किया है, उसे भगवान् भी किस प्रकार सर्वथैव त्याज्य कहेंगे? संसार के व्यवहार किसी मनुष्य को अंशतः उसके प्रारब्धकर्मा-नुसार प्राप्त हुए जन्म-स्वभाव से नीरस या मधुर मालूम होते हैं। और, पहले कह चुके हैं, कि ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध-कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं। इसलिये इस प्रारब्धकर्मा-नुसार प्राप्त हुए जन्म-स्वभाव के कारण यदि किसी ज्ञानी पुरुष

का जी सांसारिक व्यवहारों से ऊब जावे और यदि वह संन्यासी हो जावे, तो उसकी निन्दा करने से कोई लाभ नहीं। आत्मज्ञान के द्वारा जिस सिद्ध पुरुष की बुद्धि निःसंग और पवित्र हो गई है, वह इस संसार में चाहे और कुछ करे; परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिये, कि वह मानवी बुद्धि की शुद्धता की परम सीमा, और विषयों में स्वभावतः लुब्ध होनेवाली हठीली मनोवृत्तियों को ताबे में रखने के सामर्थ्य की पराकाष्ठा सब लोगों को प्रत्यक्ष रीति से दिखला देता है। उसका यह कार्य लोक-संग्रह की दृष्टि से भी कुछ छोटा नहीं है। लोगों के मन में संन्यास-धर्म के विषय में जो आदर-बुद्धि विद्यमान है, उसका सच्चा कारण यही है; और मोक्ष की दृष्टि से यही गीता को भी सम्मत है। परन्तु केवल जन्म-स्वभाव की ओर, अर्थात् प्रारब्ध-कर्म की ही ओर, ध्यान न दे कर यदि शास्त्र की रीति के अनुसार इस बात का विचार किया जावे, कि जिसने पूरी आत्म-स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है उस ज्ञानी पुरुष को इस कर्म-भूमि में किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये, तो गीता के अनुसार यह सिद्धान्त करना पड़ता है, कि कर्मत्याग-पक्ष गौण है, और सृष्टि के आरम्भ में मरीचि प्रभृति ने तथा आगे चल कर जनक आदिकों ने जिस कर्मयोग का आचरण किया है, उसीको ज्ञानी पुरुष लोक-संग्रह के लिये स्वीकार करें।

क्योंकि, अब न्यायतः यही कहना पड़ता है, कि परमेश्वर की निर्माण की हुई सृष्टि को चलाने का काम भी ज्ञानी मनुष्यों को ही करना चाहिये; और, इस मार्ग में ज्ञान-सामर्थ्य के साथ ही कर्म-सामर्थ्य का भी विरोध-रहित मेल होने के कारण, यह कर्म-योग केवल सांख्य-मार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक योग्यता का निश्चित होता है।

सांख्य और कर्मयोग दोनों निष्ठाओं में जो मुख्य भेद है उसका उक्त रीति से विचार करने पर **सांख्य+निष्कामकर्म=कर्मयोग** यह समीकरण निष्पन्न होता है; और वैशंपायन के कथनानुसार गीता-प्रतिपादित प्रवृत्ति-प्रधान कर्मयोग के प्रति-पादन में ही सांख्यनिष्ठा के निरूपण का भी सरलता से समा-वेश हो जाता है (मभा. शां. ३४८.५३)। और, इसी कारण से गीता के संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह बतलाने के लिये अच्छा अवसर मिल गया है, कि गीता में उनका सांख्य या संन्यास-मार्ग ही प्रतिपादित है। गीता के जिन श्लोकों में कर्म को श्रेयस्कर निश्चित कर कर्म करने को कहा है, उन श्लोकों की ओर दुर्लक्ष करने से, अथवा यह मन-गढ़न्त कह देने से, कि वे सब श्लोक अर्थवादात्मक अर्थात् आनुषंगिक एवं प्रशंसात्मक हैं; या किसी अन्य युक्ति से उपर्युक्त समीकरण के 'निष्काम-कर्म' को उड़ा देने से, उसी समीकरण का सांख्य=कर्मयोग यह

रूपान्तर हो जाता है; और फिर यह कहने के लिये स्थान मिल जाता है, कि गीता में सांख्य-मार्ग का ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु इस रीति से गीता का जो अर्थ किया गया है, वह गीता के उपक्रमोपसंहार के अत्यन्त विरुद्ध है; और, इस ग्रन्थ में हमने स्थान स्थान पर स्पष्ट रीति से दिखलाया दिया है, कि गीता में कर्मयोग को गौण तथा संन्यास को प्रधान मानना वैसा ही अनुचित है,जैसे घर के मालिक को कोई तो उसीके घर में पहुना कह दे और पहुने को घर का मालिक ठहरा दे। जिन लोगों का मत है कि गीता में केवल वेदान्त,केवल भक्ति या सिर्फ़ पातंजल-योग ही का प्रतिपादन किया गया है, उनके इन मतों का खण्डन हम कर ही चुके हैं। गीता में कौनसी बात नहीं ? वैदिक धर्म में मोक्ष-प्राप्ति के जितने साधन या मार्ग हैं, उनमें से प्रत्येक मार्ग का कुछ न कुछ भाग गीता में है; और इतना होने पर भी 'भूतभृन्न च भूतस्थो' (गी. ९. ५) के न्याय से गीता का सच्चा रहस्य इन सब मार्गों की अपेक्षा भिन्न ही है। संन्यास-मार्ग अर्थात् उपनिषदों का यह तत्त्व गीता को ग्राह्य है, कि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं; परन्तु उसे निष्काम कर्म के साथ जोड देने के कारण गीता-प्रतिपादित भागवतधर्म में ही यति-धर्म का भी सहज ही समावेश हो गया है। तथापि गीता में संन्यास और वैराग्य का अर्थ यह नहीं किया है, कि कर्मों को छोड देना

चाहिये; किन्तु यह कहा है, कि केवल फलाशा का ही त्याग करने में सच्चा वैराग्य या संन्यास है; और अन्त में सिद्धान्त किया है, कि उपनिषत्कारों के कर्म-संन्यास की अपेक्षा निष्काम-कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मकांडी मीमांसकों का यह मत भी गीता को मान्य है, कि यदि यज्ञ के लिये ही वेदविहित यज्ञयागादि कर्मों का आचरण किया जावें, तो वे बन्धक नहीं होते। परन्तु 'यज्ञ' शब्द का अर्थ विस्तृत करके गीता ने उक्त मत में यह सिद्धान्त और जोड़ दिया है, कि यदि फलाशा का त्याग कर सब कर्म किये जावें तो यही एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है; इसलिये मनुष्य का यही कर्त्तव्य है, कि वह वर्णाश्रम-विहित सब कर्मों को केवल निष्काम-बुद्धि से सदैव करता रहे। सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम के विषय में उपनिषत्कार के मत की अपेक्षा सांख्यों का मत गीता में प्रधान माना गया है; तो भी प्रकृति और पुरुष तक ही न ठहर कर, सृष्टि के उत्पत्ति-क्रम की परम्परा उपनिषदों में वर्णित नित्य परमात्मा पर्यन्त ले जाकर भिड़ा दी गई है। केवल बुद्धि के द्वारा अध्यात्मज्ञान का प्राप्त कर लेना क्लशदायक है, इसलिये भागवत या नारायणीय धर्म में यह कहा है, कि उसे भक्ति और श्रद्धा के द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिये। इस वासुदेव-भक्ति की विधि का वर्णन गीता में भी किया गया है। परन्तु इस विषय में भी भागवत-धर्म की सब

अंशों में कुछ नकल नहीं की गई है; वरन् भागवत-धर्म में वर्णित जीव के उत्पत्तिविषयक इस मत को वेदान्तसूत्रों की नाइ गीता ने भी त्याज्य माना है, कि वासुदेव से संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ है; और, भागवत-धर्म में वर्णित भक्ति का तथा उपनिषदों के क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-सम्बन्धी सिद्धान्त का पूरा पूरा मेल कर दिया है। इसके सिवा मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा साधन पातञ्जलयोग है। यद्यपि गीता का कहना यह नहीं, कि पातञ्जल-योग ही जीवन का मुख्य कर्त्तव्य है, तथापि गीता यह कहती है, कि बुद्धि को सम करने के लिये इन्द्रिय-निग्रह करने की आवश्यकता है, इसलिये उतने भर के लिये पातञ्जलयोग के यम-नियम-आसन आदि साधनों का उपयोग कर लेना चाहिये। सारांश, वैदिक धर्म में मोक्ष-प्राप्ति के जो जो साधन बतलाये गये हैं, उन सभी का कुछ न कुछ वर्णन, कर्मयोग का सांगोपांग विवेचन करने के समय, गीता में प्रसंगानुसार करना पड़ा है। यदि इन सब वर्णनों को स्वतन्त्र कहा जायँ, तो विसंगति उत्पन्न होकर ऐसा भास होता है, कि गीता के सिद्धान्त परस्परविरोधी हैं; और यह भास भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक टीकाओं से तो और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। परन्तु जैसा हमने ऊपर कहा है उसके अनुसार यदि यह सिद्धान्त किया जायँ, कि ब्रह्मज्ञान और

भक्ति का मेल करके अन्त में उसके द्वारा कर्मयोग का समर्थन करना ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, तो ये सब विरोध लुप्त हो जाते हैं; और, गीता में जिस अलौकिक चातुर्य से पूर्ण व्यापक दृष्टि को स्वीकार कर तत्त्वज्ञान के साथ भक्ति तथा कर्मयोग का यथोचित मेल कर दिया गया है, उसको देख दाँतों तले अँगुली दबाकर रह जाना पड़ता है! गंगा में कितनी ही नदीयाँ क्यों न आ मिलें, परन्तु इससे उसका मूल स्वरूप नहीं बदलता; बस, ठीक यही हाल गीता का भी है। उसमें सब कुछ भले ही हो, परन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो कर्मयोग ही है। यद्यपि इस प्रकार कर्मयोग ही मुख्य विषय है, तथापि कर्म के साथ ही साथ मोक्ष-धर्म के मर्म का भी उसमें भली-भाँति निरूपण किया गया है; इसलिये कार्य-अकार्य का निर्णय करने के हेतु बतलाया गया यह गीताधर्म ही–'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने' (मभा. अश्व. १६. १२) —ब्रह्म की प्राप्ति करा देने के लिये भी पूर्ण समर्थ है; और, भगवान् ने अर्जुन से अनुगीता के आरम्भ में स्पष्ट रीति से कह दिया है, कि इस मार्ग से चलनेवाले को मोक्ष-प्राप्ति के लिये किसी भी अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं, कि संन्यास-मार्ग के उन लोगों को हमारा कथन रोचक प्रतीत न होगा जो यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि बिना सब

व्यावहारिक कर्मों का त्याग किये मोक्ष की प्राप्ति हो नहीं सकती; परन्तु इसके लिये कोई इलाज नहीं है। गीता ग्रन्थ न तो संन्यास-मार्ग का है और न निवृत्ति-प्रधान किसी दूसरे ही पंथ का। गीताशास्त्र की प्रवृत्ति तो इसी लिये है, कि वह ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से ठीक ठीक युक्तिसहित इस प्रश्न का उत्तर दे, कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्मों का संन्यास करना अनुचित क्यों है ? इसलिये संन्यास-मार्ग के अनुयायियों को चाहिये, कि वे गीता को भी 'संन्यास देने' की झंझट में न पड़ 'संन्यासमार्ग-प्रतिपादक' जो अन्य वैदिक ग्रन्थ हैं उन्हीं से संतुष्ट रहें। अथवा, गीता में संन्यास-मार्ग को भी भगवान् ने जिस निरभिमान बुद्धि से निःश्रेयस्कर कहा है, उसी सम बुद्धि से सांख्य-मार्गवालों को भी यह कहना चाहिये, कि "परमेश्वर का हेतु यह है कि संसार चलता रहे; और जब कि इसी लिये वह बारबार अवतार धारण करता है, तब ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर निष्काम-बुद्धि से व्यावहारिक कर्मों को करते रहने के जिस मार्ग का उपदेश भगवान् ने गीता में दिया है वही मार्ग कलिकाल में उपयुक्त है"—और ऐसा कहना ही उनके लिए सर्वोत्तम पक्ष है।

उपोद्‌घात ।

ज्ञान से और श्रद्धा से, पर इसमें भी विशेषतः भक्ति के सुलभ राजमार्ग से, जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके लोकसंग्रह के निमित्त स्वधर्मानुसार अपने अपने कर्म निष्काम बुद्धि से मरण पर्यन्त करते रहना ही प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है; इसी में उसका सांसारिक और पारलौकिक परम कल्याण है; तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म छोड़ बैठने की अथवा और कोई भी दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है । समस्त गीताशास्त्र का यही फलितार्थ है, जो गीतारहस्य में प्रकरणशः विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हो चुका है । इसी प्रकार चौदहवें प्रकरण में यह भी दिखला आये हैं, कि उल्लिखित उद्देश से गीता के अठारहों अध्यायों का मेल कैसा अच्छा और सरल मिल जाता है; एवं इस कर्मयोगप्रधान गीताधर्म में अन्यान्य मोक्ष-साधनों के कौन कौन से भाग किस प्रकार आये हैं । इतना कर चुकने पर वस्तुतः इससे अधिक काम नहीं रह जाता, कि गीता के श्लोकों का क्रमशः हमारे मतानुसार भाषा में सरल अर्थ बतला दिया जावे । किन्तु गीतारहस्य के सामान्य विवेचन में यह बतलाते न बनता था, कि गीता के प्रत्येक अध्याय के विषय का विभाग कैसे हुआ है; अथवा टीकाकारों ने अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये कुछ विशेष श्लोकों के पदों की किस प्रकार खींचातानी की है । अतः इन दोनों बातों का विचार करने, और जहाँ का

तहीं पूर्वापर सन्दर्भ दिखला देने के लिये भी, अनुवाद के साथ साथ आलोचना के ढ़ंग पर कुछ टिप्पणीयों के देने की आवश्यकता हुई। फिर भी जिन विषयों का गीतारहस्य मे विस्तृत वर्णन हो चुका है, उनका केवल दिग्दर्शन करा दिया है; और गीतारहस्य के जिस प्रकरण में उस विषय का विचार किया गया है, उसका सिर्फ हवाला दिया है । ये टिप्पणीयाँ मूल ग्रन्थ से अलग पहचान ली जा सकें इसके लिये ये [ ] चौकोन ब्रैकिटों के भीतर रखी गई हैं। श्लोकों का अनुवाद, जहाँ तक बन पड़ा है, शब्दशः किया गया है और कितने ही स्थलों पर तो मूल के ही शब्द रख दिये गये हैं; एवं "अर्थात यानी" से जोड़ कर उनका अर्थ खोल दिया है और छोटी मोटी टिप्पणीयों का काम अनुवाद से ही निकाल लिया गया है । इतना करने पर भी, संस्कृत की और भाषा की प्रणाली भिन्न भिन्न होती है इस कारण, मूल संस्कृत श्लोक का अर्थ भी भाषा में व्यक्त करने के लिये कुछ अधिक शब्दों का प्रयोग अवश्य करना पड़ता है, और अनेक स्थलों पर मूल के शब्द को अनुवाद में प्रमाणार्थ लेना पड़ता है । इन शब्दों पर ध्यान जमने के लिये ( ) ऐसे कोष्टक में ये शब्द रखे गये हैं । संस्कृत ग्रन्थों में श्लोक का नम्बर श्लोक के अन्त में रहता है; परन्तु अनुवाद में हमने यह नम्बर पहले ही आरम्भ में रखा है । अतः किसी श्लोक क अनुवाद देखना हो तो, अनुवाद में उस नम्बर के आगे क

वाक्य पढ़ना चाहिये। अनुवाद की रचना प्रायः ऐसी की गई है कि टिप्पणी छोड़ कर निरा अनुवाद ही पढ़ते जायँ तो अर्थ में कोई व्यतिक्रम न पड़े। इसी प्रकार जहाँ मूल में एक ही वाक्य, एक से अधिक श्लोकों में पूरा हुआ है, वहाँ उतने ही श्लोकों के अनुवाद में यह अर्थ पूर्ण किया गया है। अतएव कुछ श्लोकों का अनुवाद मिला कर ही पढ़ना चाहिये। ऐसे श्लोक जहाँ जहाँ हैं, वहाँ श्लोक के अनुवाद में पूर्ण-विराम-चिन्ह (।) खड़ी पाई नहीं लगाई गई है। फिर भी यह स्मरण रहे, कि अनुवाद अन्त में अनुवाद ही है। हमने अपने अनुवाद में गीता के सरल, खुले और प्रधान अर्थ को ले आने का प्रयत्न किया है सही, परन्तु संस्कृत शब्दों में और विशेषतः भगवान् की प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और प्रतिक्षण में नई रुची देनेवाली वाणी में लक्षणा से अनेक व्यंग्यार्थ उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य है, उसे जरा भी न घटा-बढ़ा कर दूसरे शब्दों में ज्यों का त्यों झलका देना असम्भव है; अर्थात् संस्कृत जाननेवाला पुरुष अनेक अवसरों पर लक्षणा से गीता के श्लोकों का जैसा उपयोग करेगा, वैसा गीता का निरा अनुवाद पढ़नेवाले पुरुष नहीं कर सकेंगे। अधिक क्या कहें, सम्भव है कि वे गोता भी खा जायँ। अतएव सब लोगों से हमारी आग्रहपूर्वक विनंती है, कि गीता ग्रन्थ का संस्कृत में ही अवश्य अध्ययन कीजिये; और अनुवाद के साथ ही साथ मूल श्लोक रखने का प्रयोजन

भी यही है । गीता के प्रत्येक अध्याय के विषय का सुविधा से ज्ञान होने के लिये इन सब विषयों की—अध्यायों के क्रम से, प्रत्येक श्लोक की–अनुक्रमणिका भी अलग दे दी है । यह अनुक्रमणिका वेदान्तसूत्रों की अधिकरणमाला के ढँग की है । प्रत्येक श्लोक को पृथक् पृथक् न पढ़ कर अनुक्रमणिका के इस सिलसिले से गीता के श्लोक एकत्र पढ़ने पर, गीता के तात्पर्य के सम्बन्ध में जो भ्रम फैला हुआ है वह कई अंशों में दूर हो सकता है । क्योंकि, साम्प्रदायिक टीकाकारों ने गीता के श्लोकों की खींचातानी कर अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये कुछ श्लोकों के जो निराले अर्थ कर डाले हैं, वे प्रायः इस पूर्वापार सन्दर्भ की ओर दुर्लक्ष्य करके ही किये गये हैं । उदाहरणार्थ, गीता ३. १९; ६. ३; और १८. २ देखिये । इस दृष्टि से देखें तो यह कहने में कोई हानि नहीं, कि गीता का यह अनुवाद और गीतारहस्य, दोनों परस्पर एक दूसरे की पूर्ति करते हैं । और जिसे हमारा वक्तव्य पूर्णतया समझ लेना हो, उसे इन दोनों ही भागों का अवलोकन करना चाहिये । भगवद्गीता ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर लेने की रीति प्रचलित है, इसलिये उसमें महत्त्व के पाठभेद कहीं भी नहीं पाये जाते हैं। फिर भी यह बतलाना आवश्यक है कि, वर्तमानकाल में गीता पर उपलब्ध होनेवाले भाष्यों में जो सबसे प्राचीन भाष्य है, उसी शाङ्करभाष्य के मूल पाठ को हमने प्रमाण माना है ।

गीता के अध्यायों की श्लोकशः विषयानुक्रमणिका।

पहला अध्याय—अर्जुनविषादयोग।

दूसरा अध्याय—सांख्ययोग।

लोगों की आत्मा दुर्ज्ञेय है सही; परन्तु तू सत्य ज्ञान को प्राप्त कर, शोक करना छोड़ दे। ३१-३८ क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता। ३९ सांख्यमार्गानुसार विषय-प्रतिपादन की समाप्ति, और कर्मयोग के प्रतिपादन का आरम्भ। ४० कर्मयोग का स्वल्प आचरण भी क्षेमकारक है। ४१ व्यवसायात्मक बुद्धि की स्थिरता। ४२-४४ कर्मकाण्ड के अनुयायी मीमांसकों की अस्थिर बुद्धि का वर्णन। ४५, ४६ स्थिर और योग्यस्थ बुद्धि से कर्म करने के विषय में उपदेश। ४७ कर्मयोग की चतुःसूत्री। ४८-५० कर्मयोग का लक्षण और कर्म की अपेक्षा कर्त्ता की बुद्धि की श्रेष्ठता। ५१-५३ कर्मयोग से मोक्ष-प्राप्ति। ५४-७० अर्जुन के पूछने पर, कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ के लक्षण; और उसी में प्रसङ्गानुसार विषयासक्ति से काम आदि की उत्पत्ति का क्रम। ७१, ७२ ब्राह्मी स्थिति। **पृ० २१-५२**

तीसरा अध्याय—कर्मयोग।

१, २ अर्जुन का यह प्रश्न कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये, या करते रहना चाहिये, सच क्या है? ३-८ यद्यपि सांख्य (कर्मसंन्यास) और कर्मयोग दो निष्ठाएँ हैं, तो भी कर्म किसी से नहीं छूटते, इसलिये कर्मयोग की श्रेष्ठता सिद्ध करके, अर्जुन को इसी के आचरण करने का निश्चित उपदेश। ९-१६ मीमांसकों के यज्ञार्थ कर्म को भी आसक्ति छोड़ कर करने का उपदेश, यज्ञ-

चक्र का अनादित्व और जगत् के धारणार्थ उसकी आवश्यकता। १७–१९ ज्ञानी पुरुष में स्वार्थ नहीं होता, इसी लिये वह प्राप्त कर्मों को निःस्वार्थ अर्थात् निष्काम बुद्धि से किया करें, क्योंकि कर्म किसी से भी नहीं छूटते। २०–२४ जनक आदि का उदाहरण, लोकसंग्रह का महत्त्व और स्वयं भगवान् का दृष्टान्त। २५–२९ ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों में भेद एवं यह आवश्यकता कि ज्ञानी मनुष्य निष्काम कर्म करके अज्ञानी को सदाचरण का आदर्श दिखलावे। ३० ज्ञानी पुरुष के समान परमेश्वरार्पण बुद्धि से युद्ध करने का अर्जुन को उपदेश। ३१, ३२ भगवान् के इस उपदेश के अनुसार श्रद्धापूर्वक बर्ताव करने अथवा न करने का फल। ३३, ३४ प्रकृति की प्रबलता और इन्द्रियनिग्रह। ३५ निष्काम कर्म भी स्वधर्म का ही करें, उसमें यदि मृत्यु हो जायँ तो कोई परवा नहीं। ३६–४१ काम ही मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध पाप करने के लिये उकसाता है, इन्द्रियसंयम से उसका नाश। ४२, ४३ इन्द्रियों की श्रेष्ठता का क्रम और आत्मज्ञानपूर्वक उनका नियमन। ... पृ० ५३–७२

चौथा अध्याय—ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग।

१, ३ कर्मयोग की सम्प्रदाय-परम्परा। ४–८ जन्मरहित परमेश्वर माया से दिव्य जन्म अर्थात् अवतार कब और किस लिये

लेता है—इसका वर्णन । ९, १० इस दिव्य जन्म का और कर्म का तत्त्व जान लेने से पुनर्जन्म छूट कर भगवत्प्राप्ति । ११, १२ अन्य रीति से भजे तो वैसा फल; उदाहरणार्थ, इस लोक के फल पाने के लिये देवताओं की उपासना । १३-१५ भगवान् के चातुर्वर्ण्य आदि निर्लेप कर्म, उनके तत्त्व को जान लेने से कर्म-बन्ध का नाश और वैसे कर्म करने के लिये उपदेश । १६-२३ कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद, अकर्म ही निःसङ्ग कर्म है । वही सच्चा कर्म है और उसी से कर्मबन्ध का नाश होता है । २४-३३ अनेक प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन और ब्रह्म-बुद्धि से किये हुए यज्ञ की अर्थात् ज्ञान-यज्ञ की श्रेष्ठता । ३४-३७ ज्ञाता से ज्ञानोपदेश, ज्ञान से आत्मौपम्य दृष्टि और पाप-पुण्य का नाश । ३८-४० ज्ञान प्राप्ति के उपाय,—बुद्धि-(योग) और श्रद्धा । इसके अभाव में नाश । ४१, ४२ (कर्म-) योग और ज्ञान का पृथक् उपयोग बतला कर, दोनों के आश्रय से युद्ध करने के लिये उपदेश ... ... पृ० ७३-९१

पाँचवाँ अध्याय—संन्यासयोग ।

१, २ यह स्पष्ट प्रश्न कि, संन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग । इस पर भगवान् का यह निश्चित उत्तर कि मोक्षप्रद तो दोनों हैं, पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । ३-६ सङ्कल्पों को छोड देने से कर्मयोगी नित्यसंन्यासी ही होता है, और बिना कर्म के संन्यास

भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये तत्त्वतः दोनों एक ही हैं। ७-१३ मन सदैव संन्यस्त रहता है, और कर्म केवल इन्द्रियाँ किया करती हैं, इसलिये कर्मयोगी सदा अलिप्त, शान्त और मुक्त रहता है। १४, १५ सच्चा कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृति का है, परन्तु अज्ञान से आत्मा का अथवा परमेश्वर का समझा जाता है। १६, १७ इस अज्ञान के नाश से पुनर्जन्म से छुटकारा। १८, २३ ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होनेवाले समदर्शित्व का, स्थिर बुद्धि का और सुख-दुःख की क्षमता का वर्णन। २४-२८ सर्वभूतहितार्थ कर्म करते रहने पर भी कर्मयोगी इसी लोक में सदैव ब्रह्मभूत, समाधिस्त और मुक्त है। २९ कर्तृत्व अपने ऊपर न लेकर परमेश्वर को यज्ञ-तप का भोक्ता और सब भूतों का मित्र जान लेने का फल। ... ... पृ० ९२-१०५

छठा अध्याय—ध्यानयोग।

१, २ फलाशा छोड़ कर कर्त्तव्य करनेवाला ही सच्चा संन्यासी और योगी है। संन्यासी का अर्थ निरग्नि और अक्रिय है। ३, ४ कर्मयोगी की साधनावस्था में और सिद्धावस्था में शम एवं कर्म के कार्य-कारण का बदल जाना तथा योगारूढ का लक्षण। ५, ६ योग को सिद्ध करने के लिये आत्मा की स्वतन्त्रता ७-९ जितात्म योगयुक्तों में भी समबुद्धि की श्रेष्ठता। १०-१७ योग-साधन के लिये आवश्यक आसन

सातवाँ अध्याय—ज्ञान-विज्ञान-योग।

माया है, और उसी के शरणागत होने पर माया से उद्धार होता है। १६–१९ भक्त चतुर्विध हैं; इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। अनेक जन्मों से ज्ञान की पूर्णता और भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल। २०–२३ अनित्य काम्य फलों के निमित्त देवताओं की उपासना; परन्तु इसमें भी उनकी श्रद्धा का फल भगवान् ही देते हैं। २४–२८ भगवान् का सत्यस्वरूप अव्यक्त है; परन्तु माया के कारण और द्वन्द्वमोह के कारण वह दुर्ज्ञेय है। माया-मोह के नाश से स्वरूप का ज्ञान। २९, ३० ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म और अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ सब एक परमेश्वर ही है—यह जान लेने से अन्त तक ज्ञानसिद्धि हो जाती है। पृ० १३२–१४६

आठवाँ अध्याय—अक्षरब्रह्मयोग।

१–४ अर्जुन के प्रश्न करने पर ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत अधिदैव, अधियज्ञ और अधिदेह की व्याख्या। उन सब में एक ही ईश्वर है। ५–८ अन्तकाल में भगवत्स्मरण से मुक्ति। परन्तु जो मन में नित्य रहता है, वही अन्तकाल में भी रहता है, अतएव सदैव भगवान् का स्मरण करने, और युद्ध करने के लिये उपदेश। ९–१३ अन्तकाल में, परमेश्वर का अर्थात् ॐकार का समाधिपूर्वक ध्यान और उसका फल। १४–१६ भगवान् का नित्य चिन्तन करने से पुनर्जन्म-नाश। ब्रह्मलोकादि गतियाँ नित्य नहीं हैं। १७–१९ ब्रह्मा का दिन रात; दिन के

आरम्भ में अव्यक्त से सृष्टि की उत्पत्ति और रात्रि के आरम्भ में उसी में लय। २०-२२ इस अव्यक्त से भी परे का अव्यक्त और अक्षर पुरुष। भक्ति से उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म का नाश। २३-२६ देवयान और पितृयाणमार्ग; पहला पुनर्जन्मनाशक है और दूसरा इसके विपरीत है। २७, २८ इन मार्गों के तत्त्व को जाननेवाले योगी को अत्युत्तम फल मिलता है, अतः तदनुसार सदा व्यवहार करने का उपदेश। ... ... पृ० १४७-१६५

नवाँ अध्याय—राजविद्या-राजगुह्ययोग।

१-३ ज्ञान विज्ञानयुक्त भक्तिमार्ग मोक्षप्रद होने पर भी प्रत्यक्ष और सुलभ है; अतएव राजमार्ग है। ४-६ परमेश्वर का अपार योगसामर्थ्य। प्राणिमात्र में रह कर भी उनमें नहीं है, और प्राणिमात्र भी उसमें रह कर नहीं हैं। ७-१० मायात्मक प्रकृति के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और संहार, भूतों की उत्पत्ति और लय। इतना करने पर भी वह निष्काम है, अतएव अलिप्त है। ११, १२ इसे बिना पहचाने, मोह में फँस कर, मनुष्य-देहधारी परमेश्वर की अवज्ञा करनेवाले मूर्ख और आसुरी हैं। १३-१५ ज्ञान-यज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार से उपासना करनेवाले दैवी हैं। १६-१९ ईश्वर सर्वत्र है, वही जगत् का मा-बाप है, स्वामी है, पोषक है और भले-बुरे का कर्ता है। २०-२२ श्रौत यज्ञ-याग

आदि का दीर्घ उद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद है, तो भी वह फल अनित्य है। योग-क्षेम के लिये यदि ये आवश्यक समझे जायँ तो वह भक्ति से भी साध्य है। २३-२५ अन्यान्य देवताओं की भक्ति पर्याय से परमेश्वर की ही होती है, परन्तु जैसी भावना होगी, और जैसा देवता होगा, फल भी वैसा ही मिलेगा। २६ भक्ति हो तो परमेश्वर फूल की पँखुरी से भी सन्तुष्ट हो जाता है। २७, २८ सब कर्मों को ईश्वरार्पण करने का उपदेश। उसी के द्वारा कर्मबन्ध से छुटकारा और मोक्ष। २९-३३ परमेश्वर सब को एक सा है। दुराचारी हो या पापयोनी, स्त्री हो या वैश्य या शूद्र, निःसीम भक्त होने पर सब को एक ही गति मिलती है। ३४ यही मार्ग अङ्गीकार करने के लिये अर्जुन को उपदेश। ... ... पृ० १६६-१८२

दसवाँ अध्याय—विभूतियोग।

१-३ यह जान लेने से पाप का नाश होता है कि अजन्मा परमेश्वर देवताओं से और ऋषियों से भी पूर्व का है। ४-६ ईश्वरी विभूति और योग। ईश्वर से ही बुद्धि आदि भावों की, सप्तर्षियों की, और मनु की, एवं परम्परा से सब की उत्पत्ति। ७-११ इसे जाननेवाले भगवद्भक्तों को ज्ञान-प्राप्ति; परन्तु उन्हें भी बुद्धि-सिद्धि भगवान् ही देते हैं। १२-१८

अपनी विभूति और योग बतलाने के लिये भगवान् से अर्जुन की प्रार्थना। १९–४० भगवान् की अनन्त विभूतियों में से मुख्य मुख्य विभूतियों का वर्णन। ४१, ४२ जो कुछ विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित् है, वह सब परमेश्वरी तेज है; परन्तु अंश से है। ... ...पृ० १८३–१९९

ग्यारहवाँ अध्याय—विश्वरूप-दर्शन-योग।

१–४ पूर्व अध्याय में बतलाये हुए अपने ईश्वरी रूप को दिखलाने के लिये भगवान् से प्रार्थना। ५–८ इस आश्चर्यकारक और दिव्य रूप को देखने के लिये, अर्जुन को दिव्यदृष्टि-ज्ञान। ९–१४ विश्वरूप का सञ्जय-कृत वर्णन। १५–३१ विस्मय और भय से नम्र होकर अर्जुनकृत विश्वरूप-स्तुति, और यह प्रार्थना कि प्रसन्न हो कर बतलाइये कि 'आप कौन हैं'। ३२–३४ पहले यह बतला कर कि 'मैं काल हूँ' फिर अर्जुन को उत्साहजनक ऐसा उपदेश कि पूर्व से ही इस काल के द्वारा ग्रसे हुए वीरों को तुम निमित्त बन कर मारो। ३५–४६ अर्जुनकृत स्तुति, क्षमा, प्रार्थना और पहले का सौम्य रूप दिखलाने के लिये विनय। ४७–५१ बिना अनन्य भक्ति के विश्वरूप का दर्शन मिलना दुर्लभ है। फिर पूर्वस्वरूप-धारण। ५२–५४ बिना भक्ति के विश्वरूप का दर्शन देवताओं को भी

बारहवाँ अध्याय--भक्तियोग।

तेरहवाँ अध्याय--क्षेत्र क्षेत्रज्ञ-विभागयोग।

लक्षण। १८ इस सब को जान लेने का फल। १९–२१ प्रकृति-पुरुष-विवेक। करने-धरनेवाली प्रकृति है, पुरुष अकर्त्ता किन्तु भोक्ता, द्रष्टा इत्यादि है। २२, २३ पुरुष ही देह में परमात्मा है। इस प्रकृति-पुरुष-ज्ञान से पुनर्जन्म नष्ट होता है। २४, २५ आत्मज्ञान के मार्ग—ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवण से भक्ति। २६–२८ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से स्थावर-जङ्गम सृष्टि; इसमें जो अविनाशी है वही परमेश्वर है। अपने प्रयत्न से उसकी प्राप्ति। २९, ३० करने-धरनेवाली प्रकृति है और आत्मा अकर्त्ता है; सब प्राणिमात्र एक में हैं और एक से सब प्राणिमात्र होते हैं। यह जान लेने से ब्रह्म-प्राप्ति। ३१–३३ आत्मा अनादि और निर्गुण है, अतएव यद्यपि वह क्षेत्र का प्रकाशक है तथापि निर्दोष है। ३४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को जान लेने से परमसिद्धि। पृ० २४१–२५९

चौदहवाँ अध्याय—गुणत्रयविभागयोग।

१, २ ज्ञान-विज्ञानान्तर्गत प्राणि-वैचित्र्य का गुण-भेद से विचार। वह भी मोक्ष-प्रद है। ३, ४ प्राणिमात्र का पिता परमेश्वर है और उसके अधीनस्थ प्रकृति माता है। ५–९ प्राणिमात्र पर सत्त्व, रज और तम के होनेवाले परिणाम। १०–१३ एक एक गुण अलग नहीं रह सकता। कोई दो को दबा कर तीसरे की वृद्धि; और प्रत्येक की वृद्धि के लक्षण।

१४–१८ गुण-प्रवृद्धि के अनुसार कर्म के फल, और मरने पर प्राप्त होनेवाली गति। १९, २० त्रिगुणातीत हो जाने से मोक्ष-प्राप्ति। २१–२५ अर्जुन के प्रश्न करने पर त्रिगुणातीत के लक्षण का और आचार का वर्णन। २६,२७ एकान्त-भक्ति से त्रिगुणातीत अवस्था की सिद्धि, और फिर सब मोक्ष के, धर्म के, एवं सुख के अन्तिम स्थान परमेश्वर की प्राप्ति। पृ० २६०–२७२

पन्द्रहवाँ अध्याय—पुरुषोत्तमयोग।

१, २ अश्वत्थरूपी ब्रह्मवृक्ष के वेदोक्त और सांख्योक्त वर्णन का मेल। ३–६ असङ्ग से इसको काट डालना ही इससे परे के अव्यय पद की प्राप्ति का मार्ग है। अव्यय-पद-वर्णन। ७–११ जीव और लिङ्ग-शरीर का स्वरूप एवं संबंध। ज्ञानी के लिये गोचर है। १२–१५ परमेश्वर की सर्वव्यापकता। १६–१८ क्षराक्षर–लक्षण। इससे परे पुरुषोत्तम। १९, २० इस गुह्य पुरुषोत्तम-ज्ञान से सर्वज्ञता और कृतकृत्यता। पृ० २७३–२८५

सोलहवाँ अध्याय—दैवासुरसम्पद्विभागयोग।

१–३ दैवी सम्पत्ति के छब्बीस गुण। ४ आसुरी सम्पत्ति के लक्षण। ५ दैवी सम्पत्ति मोक्षप्रद और आसुरी बन्धनकारक है। ६–२० आसुरी लोगों का विस्तृत वर्णन। उनको जन्म–जन्म में अधोगति मिलती है। २१, २२ नरक के त्रिविध द्वार–

काम, क्रोध और लोभ। इनसे बचने में कल्याण है। २३, २४ शास्त्रानुसार कार्याकार्य का निर्णय और आचरण करने के विषय मे उपदेश। ... ...पृ० २८६–२९६

सत्रहवाँ अध्याय—श्रद्धात्रयविभागयोग।

१–४ अर्जुन के पूछने पर प्रकृति-स्वभावानुसार सात्त्विक आदि त्रिविध श्रद्धा का वर्णन। जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष। ५, ६ इनसे भिन्न आसुर। ७–१० सात्त्विक, राजस और तामस आहार। ११–१३ त्रिविध यज्ञ। १४–१६ तप के तीन भेद—शारीर, वाचिक और मानस। १७–१९ इनमें सात्त्विक आदि भेदों से प्रत्येक त्रिविध है। २०–२२ सात्त्विक आदि त्रिविध दान। २३ ॐतत्सत् ब्रह्मनिर्देश। २४–२७ इनमें ॐ से आरम्भसूचक, 'तत्' से निष्काम और 'सत्' से प्रशस्त कर्म का समावेश होता है। २८ शेष अर्थात् असत् इहलोक और परलोक में निष्फल है। ... ... पृ० २९७–३०९

अठारहवाँ अध्याय—मोक्षसंन्यासयोग।

१, २ अर्जुन के पूछने पर संन्यास और त्याग की कर्मयोग-मार्गान्तर्गत व्याख्याएँ। ३–६ कर्म का त्याज्य-अत्याज्यविषयक निर्णय। यज्ञ-याग आदि कर्मों को भी अन्यान्य कर्मों के समान निःसङ्ग बुद्धि से करना ही चाहिये। ७–९ कर्मत्याग के तीन भेद—सात्त्विक, राजस और तामस; फलाशा छोड़ कर कर्त्तव्य-कर्म

करना ही सात्त्विक त्याग है। १०, ११ कर्मफल-त्यागी ही सात्त्विक त्यागी है, क्योंकि कर्म तो किसी से भी छूट ही नहीं सकता। १२ कर्म का त्रिविध फल सात्त्विक त्यागी पुरुष को बन्धक नहीं होता। १३-१५ कोई भी कर्म होने के पाँच कारण हैं, केवल मनुष्य ही कारण नहीं है। १६-१९ अतएव यह अहङ्कार-बुद्धि-कि मैं करता हूँ-छूट जाने से कर्म करने पर भी अलिप्त रहता है। कर्मचोदना और कर्मसंग्रह का सांख्योक्त लक्षण और उनके तीन भेद । २०-२२ सात्त्विक आदि गुण-भेद से ज्ञान के तीन भेद। 'अविभक्तं विभक्तेषु' यह सात्त्विक ज्ञान है। २३-२५ कर्म की त्रिविधता। फलाशारहित कर्म सात्त्विक है। २६-२८ कर्त्ता के तीन भेद। निःसङ्ग कर्ता सात्त्विक है। २९-३२ बुद्धि के तीन भेद। ३३-३५ धृति के तीन भेद। ३६-३९ सुख के तीन भेद। आत्म-बुद्धिप्रसादज सात्त्विक सुख है। ४० गुण-भेद से सारे जगत् के तीन भेद। ४१-४४ गुण-भेद से चातुर्वर्ण्य की उपपत्ति; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभावजन्य कर्म। ४५, ४६ चातुर्वर्ण्य-विहित स्वधर्माचरण से ही अन्तिम सिद्धि। ४७-४९ परधर्म भयावह है; स्वधर्म सदोष होने पर भी अत्याज्य है; सारे कर्म स्वधर्म के अनुसार निस्सङ्ग बुद्धि के द्वारा करने से ही नैष्कर्म्यसिद्धि मिलती है। ५०-५६ इस बात का निरूपण कि सारे कर्म करते रहने से भी सिद्धि

किस प्रकार मिलती है । ५७, ५८ इसी मार्ग को स्वीकार करने के विषय में अर्जुन को उपदेश। ५९–६३ प्रकृति-धर्म के सामने अहङ्कार की एक नहीं चलती। ईश्वर की ही शरण में जाना चाहिये। अर्जुन को यह उपदेश कि इस गुह्य को समझ कर फिर जो दिल में आवे सो कर। ६४–६६ भगवान् का यह अन्तिम आश्वासन कि सब धर्म छोड़ कर "मेरी शरण में आ," सब पापों से "मैं तुझे मुक्त कर दूँगा"। ६७–६९ कर्मयोगमार्ग की परम्परा को आगे प्रचलित रखने का श्रेय। ७०, ७१ उसका फल-माहात्म्य। ७२, ७३ कर्त्तव्य-मोह नष्ट हो कर, अर्जुन की युद्ध करने के लिए तैयारी। ७४–७८ धृतराष्ट्र को यह कथा सुना चुकने पर सञ्जयकृत उपसंहार। ... पृ० ३१०–३४८

श्रीमद्भगवद्गीता।

पहला अध्याय।

[भारतीय युद्ध के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस गीता का उपदेश किया है, उसका लोगों में प्रचार कैसे हु॰॰ उसकी परम्परा वर्तमान महाभारत ग्रन्थ में ही इस प्रका॰ गई है:—युद्ध आरम्भ होने से प्रथम व्यासजी ने धृत॰ जा कर कहा कि "यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखने की मैं अपनी तुम्हें दृष्टि देता हूँ।" इसपर धृतराष्ट्र ने कहा ' ॰ अपने कुल का क्षय अपनी दृष्टि से नहीं देखना चाहता", तब एक ही स्थान पर बैठे बैठे, सब बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के लिये सञ्जय नामक सूत को व्यासजी ने दिव्य-दृष्टि दे दी। इस सञ्जय के द्वारा युद्ध के अविकल वृत्तान्त धृतराष्ट्र को अवगत करा देने का प्रबन्ध करके व्यासजी चले गये (मभा. भीष्म. २, जब आगे युद्ध में भीष्म आहत हुए, और उक्त प्रबन्ध के अनुसार समाचार सुनाने के लिये पहले सञ्जय धृतराष्ट्र के पास गया, तब भीष्म के बारे में शोक करते हुए धृतराष्ट्र ने सञ्जय को

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

आज्ञा दी कि युद्ध की सारी बातों का वर्णन करो । तदनुसार ञ्जय ने पहले दोनों दलों की सेनाओं का वर्णन किया; और ृतराष्ट्र के पूछने पर गीता बतलाना आरम्भ किया है । ल कर यह सब वार्ता व्यासजी ने अपने शिष्यों को, उन में से वैशम्पायन ने जनमेजय को, और अन्त में सौती ने ो सुनाई है । महाभारत की सभी छपी हुई पोथीयों में भीष्म र्व के १५ वें अध्याय से ४२ वें अध्याय तक यही गीता कही गई है । इस परम्परा के अनुसार—]

धृतराष्ट्र ने पूछा–(१) हे सञ्जय ! कुरुक्षेत्र की पुण्यभूमि में एकत्रित मेरे और पाण्डु के युद्धेच्छुक पुत्रों क्या किया ?

[हस्तिनापुर के चहुँ ओर का मैदान कुरुक्षेत्र है । वर्तमान दिल्ली शहर इसी मैदान पर बसा हुआ है । कौरव-पाण्डवों का

संजय उवाच.

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पूर्वज, कुरु नाम का राजा इस मैदान को हल से बड़े कष्टपूर्वक जोता करता था; अतएव इसको क्षेत्र (या खेत) कहते हैं। जब इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो लोग तप करते करते, या युद्ध में, मर जावेंगे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया (मभा. शल्य. ५३)। इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र धर्म-क्षेत्र या पुण्य-क्षेत्र कहलाने लगा।]

सञ्जय ने कहा:—(२) उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह रच कर (खड़ी) देख, राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्य के पास गया और उनसे कहने लगा, कि—

[महाभारत (मभा. भी. १९. ४–७; मनु. ७. १९१) के उन अध्यायों में, कि जो गीता से पहले लिखे गये हैं, यह वर्णन है कि जब कौरवों की सेना का भीष्म-द्वारा रचा हुआ व्यूह

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

पांडवों ने देखा और जब उनको अपनी सेना कम देख पड़ी तब उन्होंने युद्धविद्या के अनुसार वज्र नामक व्यूह रचकर अपनी सेना खड़ी की। युद्ध में प्रतिदिन ये व्यूह बदला करते थे।]

(३) हे आचार्य ! पांडुपुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये, कि जिसकी व्यूह-रचना तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने की है। (४) इसमें शूर, महाधनुर्धर, और युद्ध में भीम तथा अर्जुन सरीखे युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद, (५) धृष्टकेतु, चेकितान और वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैब्य, (६) इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु और वीर्यशाली उत्तमौजा, एवं सुभद्रा के पुत्र (अभिमन्यु), तथा द्रौपदी के (पांच) पुत्र—ये सभी महारथी हैं ।

[दस हजार धनुर्धारी योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध करनेवाले को महारथी कहते हैं ।]

(७) हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओर, सेना के जो मुख्य मुख्य नायक हैं उनके नाम भी मैं आपको सुनाता हूँ; ध्यान दे कर सुनिये । (८) आप और भीष्म, कर्ण और रणजीत कृप, अश्वत्थामा और विकर्ण (दुर्योधन

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

के सौ भाईयों में से एक), तथा सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा), (९) एवं इनके सिवा बहुतेरे अन्यान्य शूर मेरे लिये प्राण देने को तैयार हैं, और सभी नाना प्रकार के शस्त्र चलाने में निपुण तथा युद्ध में प्रविण हैं। (१०) इस प्रकार हमारी यह सेना, जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं, अपर्याप्त अर्थात् अपरिमित या अमर्यादित है; किन्तु उन (पाण्डवों) की वह सेना जिसकी रक्षा भीम कर रहा है, पर्याप्त अर्थात् परिमित या मर्यादित है।

[इस श्लोक में 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दों के अर्थ के विषय में मतभेद है। सब सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिये ही हर्षपूर्वक यह वर्णन किया गया है। इसलिये इस स्थान

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

पर, 'अपर्याप्त' शब्द का "अमर्यादित, अपार या अगणित" के सिवा और कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। पाण्डवों की सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न था, परंतु "भीम रक्षा कर रहा है" कहने का कारण यह है, कि पहले दिन पाण्डवों ने जो वज्र नाम का व्यूह रचा था उसकी रक्षा के लिये इस व्यूह के अग्र भाग में भीम ही नियुक्त किया गया था, अतएव सेनारक्षक की दृष्टि से दुर्योधन को वही सामने दिखाई दे रहा था।]

(११) (तो अब) नियुक्त के अनुसार सब अयनों में अर्थात् सेना के भिन्न भिन्न प्रवेश-द्वारों में रह कर तुम सब को मिल करके भीष्म की ही सभी ओर से रक्षा करनी चाहिये।

(१२) (इतने में) दुर्योधन को हर्षाते हुए प्रताप-शाली वृद्ध कौरव पितामह (सेनापति भीष्म) ने सिंह

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥ १४ ॥
पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः॥
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५ ॥

की ऐसी बड़ी गर्जना कर (लड़ाई की सलामी के लिये) अपना शंख फूँका। (१३) इसके साथ ही साथ अनेक शंख, भेरी (नौबतें), पणव, आनक और गोमुख (ये लड़ाई के बाजे) एकदम बजने लगे और इन बाजों का नाद चारों ओर खूब गूंज उठा। (१४) अनन्तर सफेद घोड़ों से जुते हुए बड़े रथ में बैठे हुए माधव (श्रीकृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने (यह सूचना करने के लिये, कि अपने पक्ष की भी तैयारी है, प्रत्युत्तर के ढँग पर) दिव्य शंख बजाये। (१५) हृषीकेश अर्थात् श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य (नामक शंख)

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

अर्जुन ने देवदत्त, भयङ्कर कर्म करनेवाले वृकोदर अर्थात् भीमसेन ने पौण्ड्र नामक बड़ा शंक फूँका; (१६) कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक, (१७) महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट तथा अजेय सात्यकि, (१८) द्रुपद और द्रोपदी के (पाँचों बेटे) तथा महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु), इन सब ने, हे राजा (धृतराष्ट्र)! चारों ओर अपने अपने

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपात धनुरुद्यम्य पांडवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

अलग अलग शंख बजाये। (१९) आकाश और पृथिवी को दहला देनेवाली उस तुमुल आवाज ने कौरवों का कलेजा फाड़ डाला।

(२०) अनन्तर कौरवों को व्यवस्था से खड़े देख, परस्पर एक दूसरे पर शस्त्रप्रहार होने का समय आने पर, कपिध्वज पाण्डव अर्थात् अर्जुन, (२१) हे राजा धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण से ये शब्द बोला—अर्जुन ने कहा—हे अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच ले चल कर

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं यं एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

खड़ा करो, (२२) इतने में युद्ध की इच्छा से तैयार हुए इन लोगों को मैं अवलोकन करता हूँ; और, मुझे इस रणसंग्राम में किनके साथ लड़ना है, एवं (२३) युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण करने की इच्छा से यहाँ जो लड़नेवाले जमा हुए हैं, उन्हें मैं देख लूँ। संजय बोला—(२४) हे धृतराष्ट्र! गुड़ाकेश अर्थात् आलस्य को जीतनेवाले अर्जुन के इस प्रकार कहने पर हृषिकेश अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण ने (अर्जुन

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तयः सर्वान्बंधूनवस्थितान्॥२७॥

के) उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्यभाग में ल. कर खड़ा कर दिया; और—

(२५) भीष्म, द्रोण, तथा सब राजाओं के सामने (वे) बोले, कि "अर्जुन ! यहाँ एकत्रित हुए इन कौरवों को देखो"। (२६) तब अर्जुन को दिखाई दिया, कि वहाँ पर इकट्ठे हुऐ सब (अपने ही) बड़े-बूढे, आजा, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती, मित्र, (२७) ससुर और स्नेही दोनों ही सेनाओं में हैं; (और इस प्रकार) य देख कर, कि वे सभी एकत्रित हमारे बान्धव है

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन (२८) परम करुणा से व्याप्त होता हुआ खिन्न होकर यह कहने लगा—

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! युद्ध करने की इच्छा से (यहाँ) जमा हुए इन स्वजनों को देख कर (२९) मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं; मुंह सुख रखा है, शरीर में कँपकँपी उठकर रोएँ भी खडे हो गये हैं; (३०) गाण्डीव (धनुष्य) हाथ से गिर पड़ता है; और शरीर में भी सर्वत्र दाह हो रहा है; खड़ा नहीं रहा जाता और

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३३॥

मेरा मन चक्कर सा खा गया है। (३१) इसी प्रकार हे केशव ! (मुझे सब) लक्षण विपरीत दिखते हैं और स्वजनों को युद्ध में मार कर श्रेय अर्थात् कल्याण (होगा ऐसा) नहीं देख पड़ता। (३२) हे कृष्ण ! मुझे विषय की इच्छा नहीं, न राज्य चाहिये और न सुख ही। हे गोविंद ! राज्य, उपभोग या जीवित रहने से ही हमें उसका क्या उपयोग है ? (३३) जिनके लिये राज्य की, उपभोगों की और सुखों की इच्छा करनी थी, वे ही ये लोग जीव और सम्पत्ति की आशा छोड़ कर युद्ध के लिये

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

खड़े हैं। (३४) आचार्य, बड़े-बूढे, लड़के, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और सम्बन्धी, (३५) यद्यपि ये (हमें) मारने के लिये खड़े हैं, तथापि हे मधुसूदन ! त्रैलोक्य के राज्य तक के लिये मैं (इन्हें) मारने की इच्छा नहीं करता; फिर पृथ्वी की बात है क्या चीज़? (३६) हे जनार्दन ! इन कौरवों को मारकर हमारा कौन सा प्रिय होगा? यद्यपि ये आततायी हैं तो भी इनको मारने से हमें पाप ही लगेगा। (३७) इस-

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

लिये हमें अपने ही बान्धव कौरवों को मारना उचित नहीं है; क्योंकि, हे माधव ! स्वजनों को मार कर हम सुखी क्योंकर होगें ?

(३८) लोभ से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, उन्हें कुल के क्षय से होनेवाला दोष और मित्रद्रोह का पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, (३९) तथापि, हे जनार्दन ! कुलक्षय का दोष हमें स्पष्ट देख पड़ रहा है, अतः इस पाप से पराङ्मुख होने की बात हमारे मन में आये बिना कैसे रहेगी ?

[भारतीय युद्ध में एक ही राष्ट्र और धर्म के लोगों में फूट हो गई थी और वे परस्पर मरने-मारने पर उतारू हो गये थे । इसी कारण से उक्त शङ्काएँ उत्पन्न हुई हैं । अर्वाचीन इतिहास

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः॥ ४२ ॥

में जहाँ-जहाँ ऐसे प्रसङ्ग आये हैं, वहाँ-वहाँ ऐसे ही प्रश्न उपस्थित हुए हैं।]

(४०) कुल का क्षय होने से सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं, और (कुल-) धर्मों के छूटने से समूचे कुल पर अधर्म की धाक जमती है; (४१) हे कृष्ण! अधर्म के फैलने से कुलस्त्रियाँ बिगड़ती हैं; हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के बिगड़ जाने पर, वर्णसङ्कर होता है। (४२) और वर्णसङ्कर होने से वह कुलघातक को और (समग्र) कुल को निश्चय ही नरक में ले जाता है, एवं पिण्डदान और तर्पणादि क्रियाओं के लुप्त हो

नानां वर्णसंकरकारकैः।
ातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥
ुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥
हो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

जाने से उनके पितर भी पतन पाते हैं। (४३) कुलघातकों के इन वर्णसङ्करकारक दोषों से पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म उत्सन्न होते हैं; (४४) और हे जनार्दन! हम ऐसा सुनते आ रहे हैं, कि जिन मनुष्यों के कुलधर्म विच्छिन्न हो जाते हैं, उनको निश्चय ही नरक-वास होता है।

(४५) देखो तो सही! हम राज्य-सुख-लोभ से स्वजनों को मारने के लिये उद्यत हुए हैं, (सचमुच) यह हमने एक बड़ा पाप करने की योजना की है!

यदि मामप्रतिकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(४६) इसकी अपेक्षा मेरा अधिक कल्याण तो इसमें होगा, कि मैं निःशस्त्र हो कर प्रतिकार करना छोड़ दूँ, (और ये) शस्त्रधारी कौरव मुझे रण में मार डालें। सञ्जय ने कहा---(४७) इस प्रकार रणभूमि में भाषण कर, शोक से व्यथितचित्त अर्जुन (हाथ का) धनुष्य-बाण डाल कर रथ में अपने स्थान पर योंही बैठ गया!

[रथ में खडे हो कर युद्ध करने की प्रणाली थी, अतः " रथ में अपनें स्थान पर बैठ गया " इन शब्दों से यही अर्थ अधिक व्यक्त होता है, कि खिन्न हो जाने के कारण युद्ध करने की उसे इच्छा न थी। महाभारत में कुछ स्थलों पर इन रथों का जो वर्णन है, उससे देख पड़ता है, कि भारतकालीन रथ प्रायः दो

पहियों के होते थे; बडे-बडे रथों में चार-चार घोडे जोते जाते थे और रथी एवं सारथी—दोनों अगले भाग में परस्पर एक दूसरे की आजू-बाजू में बैठते थे। रथ की पहचान के लिये प्रत्येक रथ पर एक प्रकार की विशेष ध्वजा लगी रहती थी। यह बात प्रसिद्ध है, कि अर्जुन की ध्वजा पर प्रत्यक्ष हनुमान ही बैठे थे।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए, अर्थात् कहे हुए, उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, अर्जुन-विषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

[गीतारहस्य के पहले (पृष्ठ ३), तीसरे (पृष्ठ ५९), और ग्यारहवें (पृष्ठ ३५१) प्रकरण में इस सङ्कल्प का ऐसा अर्थ किया गया है कि, गीता में केवल ब्रह्मविद्या ही नहीं है, किन्तु उसमें ब्रह्मविद्या के आधार पर कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि यह सङ्कल्प महाभारत में नहीं है, परन्तु यह गीता पर संन्यासमार्गी टीका होने के पहले का होगा; क्योंकि, संन्यासमार्ग का कोई भी पण्डित ऐसा सङ्कल्प न लिखेगा। और इससे यह प्रगट होता है, कि गीता में संन्यासमार्ग का प्रतिपादन नहीं है; किन्तु कर्मयोग का, शास्त्र समझ कर, संवाद-रूप से विवेचन है। संवादात्मक और शास्त्रीय पद्धति का भेद रहस्य के चौदहवें प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है।]

द्वितीयोऽध्यायः ।

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

दूसरा अध्याय ।

सञ्जय ने कहा—(१) इस प्रकार करुणा से व्याप्त, आँखों में आँसू भरे हुए और विषाद पानेवाले अर्जुन से मधुसूदन (श्रीकृष्ण) यह बोले—श्रीभगवान् ने कहा—(२) हे अर्जुन ! संकट के इस प्रसंग पर तेरे (मन में) यह मोह (कश्मलं) कहाँ से आ गया, जिसका कि आर्य अर्थात् सत्पुरुषों ने (कभी) आचरण नहीं किया, जो अधोगति को पहुँचानेवाला है, और जो

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

अर्जुन उवाच।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

दुष्कीर्तिकारक है? (३) हे पार्थ! ऐसा नामर्द मत हो! यह तुझे शोभा नहीं देता। अरे शत्रुओं को ताप देनेवाले! अन्तःकरण की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर (युद्ध के लिये) खड़ा हो!

[इस स्थान पर हम ने परन्तप शब्द का अर्थ कर तो दिया है; परन्तु, बहुतेरे टीकाकारों का यह मत हमारी राय में युक्ति-संगत नहीं है, कि अनेक स्थानों पर आनेवाले विशेषण-रूपी संबोधन या कृष्ण-अर्जुन के नाम गीता में हेतुगर्भित अथवा अभिप्राय सहित प्रयुक्त हुए हैं। अतएव कई बार हम ने श्लोक में प्रयुक्त नामों का ही हूबहू अनुवाद न कर 'अर्जुन' या 'श्रीकृष्ण' ऐसा साधारण अनुवाद कर दिया है।]

अर्जुन ने कहा—(४) हे मधुसूदन! मैं (परम) पूज्य भीष्म और द्रोण के साथ हे शत्रुनाशन! युद्ध में

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

बाणों से कैसे लड़ूंगा ? (५) महात्मा गुरु लोगों को न मार कर, इस लोक में भीख माँग करके पेट पालना भी श्रेयस्कर है; परन्तु अर्थ-लोलुप (हों तो भी) गुरु लोगों को मार कर इसी जगत् में मुझे उनके रक्त से सने हुए भोग भोगने पड़ेंगे।

['गुरु लोगों' इस बहुवचनान्त शब्द से 'बड़े बुढ़ों' का ही अर्थ लेना चाहिये।]

(६) हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

लें—इन दोनों बातों में श्रेयस्कर कोन है, यह भी समझ नहीं पड़ता। जिन्हें मार कर फिर जीवित रहने की इच्छा नहीं वे ही ये कौरव (युद्ध के लिये) सामने डटे हैं! (७) दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई है, (मुझे अपने) धर्म अर्थात् कर्तव्य का मन में मोह हो गया है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ। जो निश्चय से श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझ शरणागत को समझाइये। (८) क्योंकि, पृथ्वी

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

का निष्कण्टक समृद्ध राज्य या देवताओं (स्वर्ग) का भी स्वामित्व मिल जाय, तथापि मुझे ऐसा कुछ भी (साधन) नहीं नज़र आता, कि जो इन्द्रियों को सुखा डालनेवाले मेरे इस शोक को दूर करे। सञ्जय ने कहा— (९) इस शत्रुसन्तापी गुडाकेश अर्थात् अर्जुन ने हृषीकेश [illegible]ष्ण) से कहा; और "मैं न लड़ूँगा" कह कर वह [illegible] हो गया। (१०) (फिर) हे भारत (धृतराष्ट्र [illegible] [illegible]ओं के बीच खिन्न होकर बैठे [illegible] हँसते हुए से बोले ।

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा-(११) जिनका शोक न करना चाहिये, तू उन्हीं का शोक कर रहा है और ज्ञान की बातें करता है ! किसी के प्राण (चाहे) जायँ या (चाहे) रहें, ज्ञानी पुरुष उनका शोक 'हीं करते । (१२) देखो न, ऐसा तो है ही नहीं (पहले) कभी न था; तू और ये राजा लोग ले) न थे; और ऐसा भी नहीं हो सकता, कि हम. : लोक अब आगे न होंगे । (१३) जिस " ण करने- वाले को इस देह में बाल ा

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५ ॥

प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे) दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। (इसलिये) इस विषय में ज्ञानी पुरुष को मोह नहीं होता।

(१४) हे कुंतिपुत्र! शीतोष्ण या सुख-दुःख देनेवाले, मात्राओं अर्थात् बाह्य सृष्टि के पदार्थों के (इन्द्रियों से) जो संयोग हैं, उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है; (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् हैं। हे भारत! (शोक न करके) उनको तू सहन कर। (१५) क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ! सुख और दुःख को समान माननेवाले जिस ज्ञानी पुरुष को उनकी व्यथा नहीं होती, वही अमृतत्त्व अर्थात् अमृत ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६ ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८ ॥

(१६) जो नहीं (असत्) है, वह हो ही नहीं सकता, और जो है (सत्) उसका अभाव नहीं होता; तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने 'सत् और असत्' दोनों का अन्त देख लिया है अर्थात् अन्त देख कर उनके स्वरूप का निर्णय किया है। (१७) स्मरण रहे कि, यह (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है, वह (मूल आत्मस्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यय तत्त्व का विनाश करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है।

[पिछले श्लोक में जिसे सत् कहा है, उसी का यह वर्णन है।]

(१८) कहा है, कि जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य,

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य हैं। अतएव हे भारत! तू युद्ध कर! (१९) (शरीर के स्वामी या आत्मा) को ही जो मारनेवाला मानता है या ऐसा समझता है, कि वह मा-- जाता है, उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है।
यह (आत्मा) न मारता है और न मारा
(२०) यह (आत्मा) न तो कभी
न मरता ही है; ऐसा भी नहीं है, कि

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

हो कर फिर होने का नहीं; यह अज, नित्य, शाश्वत
और पुरातन है, एवं शरीर का वध हो जाय तो भी
मारा नहीं जाता । (२१) हे, पार्थ ! जिसने जान
लिया, कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और
य है, वह पुरुष किसी को कैसे मरवावेगा और किसी
मारेगा ? (२२) जिस प्रकार (कोई)
स्त्रों को छोड कर नये ग्रहण करता है,
अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराने
दूसरे नये शरीर धारण करता है ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥३९॥

दुःखकारक और है ही क्या? (३७) मर गया तो स्वर्ग को जावेगा और जीत गया तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा! इसलिये हे अर्जुन! युद्ध का निश्चय करके उठ! (३८) सुख-दुःख, नफ़ा-नुकसान और जय-पराजय को एक सा मान कर फिर युद्ध में लग जा। ऐसा करने से तुझे (कोई भी) पाप लगने का नहीं।

(३९) सांख्य अर्थात् संन्यासनिष्ठा के अनुसार तुझे यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान या उपपत्ति बतलाई गई।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

अब जिस बुद्धि से युक्त होने पर (कर्मों के न छोड़ने पर भी) हे पार्थ ! तू कर्मबन्ध छोडेगा, ऐसी यह (कर्म-) योग की बुद्धि अर्थात् ज्ञान (तुझ से बतलाता हूँ) सुन ।

(४०) यहाँ अर्थात् इस कर्मयोगमार्ग में (एक बार) आरम्भ किये हुऐ कर्म का नाश नहीं होता और (आगे) विघ्न भी नहीं होते । इस धर्म का थोड़ा सा भी (आचरण) बडे भय से संरक्षण करता है ।

(४१) हे कुरुनन्दन ! इस मार्ग में व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्य का निश्चय करनेवाली (इंद्रय-रूपी) बुद्धि एक अर्थात् एकाग्र रखनी पड़ती है; क्योंकि, जिनकी बुद्धि का (इस प्रकार एक) निश्चय नहीं होता,

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

उनकी बुद्धि अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओं से युक्त और अनन्त (प्रकार की) होती हैं।

[बुद्धि शब्द के 'निश्चय करनेवाली इन्द्रिय' और 'वासना' इन दोनों अर्थ को ध्यान में रखे बिना कर्मयोग की बुद्धि के विवेचन का मर्म भली भाँति समझ में आने का नहीं।]

(४२) हे पार्थ! (कर्मकांडात्मक) वेदों के (फल-श्रुति-युक्त) वाक्यों में भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ा कर कहा करते हैं, कि—(४३) "अनेक प्रकार के (यज्ञ-याग आदि) कर्मों से ही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है और (जन्म-जन्मान्तर) में भोग तथा ऐश्वर्य

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

मिलता है, "—स्वर्ग के पीछे पडे हुए वे काम्य-बुद्धि-वाले (लोग), (४४) उल्लिखित भाषण की ओर ही उनके मन आकर्षित हो जाने से भोग और ऐश्वर्य में ही गर्क रहते हैं; इस कारण उनकी व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि (कभी भी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकती ।

(४५) हे अर्जुन ! (कर्मकाण्डात्मक) वेद (इस रीति से) त्रैगुण्य की बातों से भरे पडे हैं, इसलिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणों से अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त हो, एवं योग-क्षेम आदि स्वार्थों में न पड़ कर आत्मनिष्ठ हो ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

(४६) चारों ओर पानी की बाढ़ आ जाने पर कुएँ का जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछ भी काम नहीं रहता), उतना ही प्रयोजन ज्ञान-प्राप्त ब्राह्मण को सब (कर्मकाण्डात्मक) वेद का रहता है (अर्थात् सिर्फ काम्यकर्मरूपी वैदिक कर्मकाण्ड की उसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती)।

(४७) कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है; फल (मिलना या न मिलना) कभी भी तेरे अधिकार अर्थात् ताबे में नहीं; (इसलिये मेरे कर्म का) अमुक फल मिले, यह हेतु (मन में) रख कर काम करनेवाला न हो; और कर्म न करने का भी तू आग्रह न कर।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

[इस श्लोक के चारों चरण परस्पर एक दूसरे के अर्थ के पूरक हैं, इस कारण अतिव्याप्ति न हो कर कर्मयोग का सारा रहस्य थोडे में उत्तम रीति से बतला दिया गया है ।]

(४८) हे धनञ्जय ! आसक्ति छोड कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि, दोनों को समान ही मान कर, ' योगस्थ ' हो करके कर्म कर, (कर्म के सिद्ध होने या निष्फल होने में रहनेवाली) समता की (मनो-) वृत्ति को ही (कर्म-) योग कहते हैं । (४९) क्योंकि, हे धनञ्जय । बुद्धि के (साम्य-) योग की अपेक्षा (बाह्य) कर्म बहुत ही कनिष्ठ है । अतएव इस (साम्य-) बुद्धि की शरण में जा । फलहेतुक अर्थात् फल पर दृष्टि रखम कर काम करनेवाले लोग कृपण अर्थात् दीन या निचले

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

दर्जे के हैं। (५०) जो (साम्य-) बुद्धि से युक्त हो जाय, वह इस लोग में पाप और पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है, अतएव योग का आश्रय कर। (पाप-पुण्य से बच कर) कर्म करने की चतुराई (कुशलता या युक्ति) को ही (कर्मयोग) कहते हैं।

(५१) (समत्व) बुद्धि से युक्त (जो) ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं, वे जन्म के बन्ध से मुक्त होकर (परमेश्वर के) दुःखविरहित पद को जा पहुँचते हैं (५२) जब तेरी बुद्धि मोह के गँदले आवरण

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

से पार हो जायगी, तब उन बातों से तू विरक्त हो जायगा जो सुनी हैं और सुनने की हैं। (५३) (नाना प्रकार के) वेदवाक्यों से घबड़ाई हुई तेरी बुद्धि जब समाधि-वृत्ति में स्थिर और निश्चल होगी, तब (यह साम्यबुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा।

अर्जुन ने कहा—(५४) हे केशव! (मुझे बतलाओ कि) समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहे? उस स्थितप्रज्ञ का बोलना, बैठना और चलना कैसा रहता है?

[इस श्लोक में 'भाषा' शब्द 'लक्षण' के अर्थ में प्रयुक्त है]

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः ... विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थि... च्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्त... शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य ... तिष्ठिता ॥ ५७ ॥

श्रीभगवान् ने कहा:— (५५) हे पार्थ जब (कोई मनुष्य अपने) मन के समस्त काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ता है, और अपने आप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। (५६) दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं और प्रीति, भय एवं क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। (५७) सब बातों में जिसका मन निःसङ्ग हो

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर ̄ निवर्तते ॥ ५९ ॥

गया, और यथाप्राप्त न का जिसे आनन्द या विषाद भी नहीं, (कह ुये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५८) जिस । कछुवा अपने (हाथ-पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५९) निराहारी पुरुष के विषय छूट जावे, तो भी (उनका) रस अर्थात् चाह नहीं छूटती। परन्तु परब्रह्म का अनुभव होने पर चाह भी छूट जाती है, अर्थात् विषय और

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशेहि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

उनकी चाह दोनों छूट जाते हैं। (६०) कारण यह है, कि केवल (इन्द्रियों के दमन करने के लिये) प्रयत्न करनेवाले विद्वान् के भी मन को, हे कुन्तिपुत्र! ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात्कार से मनमानी ओर खींच लेती हैं। (६१) (अतएव) इन सब इन्द्रियों का संयमन कर युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ अपने स्वाधीन हो जायँ (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हो गई।

[इन तीन श्लोकों का भावार्थ यह है कि जिसे स्थितप्रज्ञ होना हो, उसे अपना आहार-विहार नियमित रख कर ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त करना चाहिये, ब्रह्मज्ञान होने पर ही मन निर्विषय होता है, शरीर क्लेश के उपाय तो ऊपरी हैं—सच्चे नहीं।]

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

(६२) विषयों का चिंतन करनेवाले पुरुष का इन विषयों में सङ्ग बढ़ता जाता है । फिर इस सङ्ग से यह वासना उत्पन्न होती है, कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये । और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है; (६३) क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धि-नाश से (पुरुष का) सर्वस्व नाश हो जाता है । (६४) परन्तु अपना आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसके

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

क़ाबू में है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी (चित्त से) प्रसन्न रहता है । (६५) चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश होता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर होती है ।

[इन दो श्लोकों में स्पष्ट वर्णन है, कि विषय या कर्म को न छोड़ स्थितप्रज्ञ केवल उनका सङ्ग छोड़ कर विषय में ही निःसङ्ग बुद्धि से बर्तता रहता है और उसे जो शान्ति मिलती है, वह कर्मयाग से नहीं किन्तु फलाशा के त्याग से प्राप्त होती है ।]

(६६) जो पुरुष उक्त रीति से युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं हुआ है, उसमें (स्थिर-) बुद्धि और

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥ ६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

भावना अर्थात् दृढ़ बुद्धिरूप निष्ठा भी नहीं रहती। जिसे भावना नहीं, उसे शान्ति नहीं और जिसे शान्ति नहीं उसे सुख मिलेगा कहाँ से? (६७) (विषयों में) सञ्चार अर्थात् व्यवहार करनेवाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है जैसे कि पानी में नौका को वायु खींचती है। (६८) अतएव हे महाबाहु अर्जुन! इंद्रियों के विषयों से जिसकी इंद्रियाँ चहुँ ओर से हटी हुई हों, (कहना चाहिये कि) उसी की बुद्धि स्थिर हुई। (६९) सब लोगों की जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं ।
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ॥
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे ।
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जागता है और जब समस्त प्राणिमात्र जागते रहते हैं, तब इस ज्ञानवान् पुरुष को रात मालूम होती है। (७०) चारों ओर से (पानी) भरते जाने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं डिगती, ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुष में समस्त विषय (उसकी शान्ति भङ्ग हुए बिना ही) प्रवेश करते हैं, उसे ही (सच्ची) शान्ति मिलती है। विषयों की इच्छा करनेवाले को (यह शान्ति) नहीं (मिलती)।

(७१) जो पुरुष सब काम अर्थात् आसक्ति छोड कर और निःस्पृह हो करके (व्यवहार में) बर्तता है,

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

एवं जिसे ममत्व और अहङ्कार नहीं होता, उसे ही शांति मिलती है ।

[पिछले ६४ वें और ६७ वें श्लोक में 'चरन्' एवं 'चरतां' का जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँ भी करना चाहिये]

(७२) हे पार्थ ! ब्राह्मी स्थिति यही है । इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नहीं फँसता; और अन्तकाल में अर्थात् मरने के समय में भी इस स्थिति में रह कर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने के स्वरूप का मोक्ष पाता है ।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग–अर्थात् कर्मयोग–शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

तीसरा अध्याय।

[अर्जुन को यह भय हो गया था, कि मुझे भीष्म-द्रोण आदि को मारना पड़ेगा। अतः सांख्यमार्ग के अनुसार आत्मा की नित्यता और अशोच्यत्व से यह सिद्ध किया गया, कि अर्जुन का भय वृथा है। फिर स्वधर्म का थोड़ा सा विवेचन करके गीता के मुख्य विषय, कर्मयोग का दूसरे अध्याय में ही आरम्भ किया गया है और कहा गया है, कि कर्म करने पर भी उनके पाप-पुण्य से बचने के लिये केवल यही एक युक्ति या योग है, कि वे कर्म साम्यबुद्धि से किये जावें। इसके अनन्तर अंत में उस कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ का वर्णन भी किया गया है, कि जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो। परन्तु इतने से ही कर्मयोग का विवेचन पूरा नहीं हो जाता। यह बात सच है, कि कोई भी काम समबुद्धि से किया जावे तो उसका पाप नहीं लगता; परन्तु जब कर्म की अपेक्षा समबुद्धि की ही श्रेष्ठता विवादरहित सिद्ध होती है (गी. २.४९), तब फिर स्थितप्रज्ञ की नाईं बुद्धि को सम कर लेने से ही काम चल जाता है-इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्म करना ही चाहिये। अतएव जब अर्जुन ने यही शंका प्रश्नरूप में उपस्थित की, तब भगवान् इस अध्याय में तथा अगले अध्याय में प्रतिपादन करते हैं कि "कर्म करना ही चाहिये।"]

तृतीयोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अर्जुन ने कहा—(१) हे जनार्दन ! यदि तुम्हारा यही मत है, कि कर्म की अपेक्षा (साम्य-) बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव ! मुझे (युद्ध के) घोर कर्म में क्यों लगाते हो ? (२) (देखने में) व्यामिश्र अर्थात् सन्दिग्ध भाषण करके तुम मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हो । इसलिये तुम ऐसी एक ही बात निश्चित करके मुझे बतलाओ, जिससे मुझे श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो ।

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—(३) हे निष्पाप अर्जुन! पहले (अर्थात् दूसरे अध्याय में) मैंने यह बतलाया है कि, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं—अर्थात् ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की। (४) (परन्तु) कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही पुरुष को नैष्कर्म्य-प्राप्ति नहीं हो जाती, और कर्मों का प्रारम्भ (त्याग) नकरने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती। (५) क्योंकि कोई मनुष्य (कुछ न कुछ) कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

प्रत्येक परतन्त्र मनुष्य को (सदा कुछ न कुछ) कर्म करने में लगाया ही करते हैं। (६) जो मूढ़ (हाथ पैर आदि) कर्मेंद्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दांभिक कहते हैं। (७) परन्तु हे अर्जुन ! उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है, कि जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके, (केवल) कर्मेन्द्रियों के द्वारा अनासक्त बुद्धि से 'कर्मयोग' का आरम्भ करता है।

[पिछले अध्याय में जो यह बतलाया गया है, कि कर्मयोग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गी. २. ४६) उसी का इन दोनों श्लोकों में स्पष्टीकरण किया गया है।]

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

(८) (अपने धर्म के अनुसार) नियत अर्थात् नियमित कर्म को तू कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है । इसके अतिरिक्त (यह समझ ले कि यदि) तू कर्म न करेगा, तो (भोजन भी न मिलने से) तेरा शरीरनिर्वाह तक न हो सकेगा ।

['अतिरिक्त' और 'तक' (अपि च) पदों से शरीरयात्रा को कम से कम हेतु कहा है ।]

(९) यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त, अन्य कर्मों से यह लोक बँधा हुआ है । तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ (किये जानेवाले) कर्म (भी) तू आसक्ति या फलाशा छोड कर करता जा ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥१२॥

[इस श्लोक के पहले चरण में मीमांसकों का और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बतलाया गया है।]

(१०) प्रारम्भ में यज्ञ के साथ साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने (उनसे) कहा, "इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो; यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् यह तुम्हारे इच्छित फलों को देनेवाला होवे। (११) तुम इस से देवताओं को संतुष्ट करते रहो, (और) वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो"। (१२) क्योंकि,

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

यज्ञ से संतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें (वापिस) न दे कर जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, वह सचमुच चोर है। (१३) यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु (यज्ञ न करके केवल) अपने ही लिये जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापी लोग पाप भक्षण करते हैं। (१४) प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है; और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

(१५) कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई है, और यह ब्रह्म अक्षर से अर्थात् परमेश्वर से हुआ है। इसलिये (यह समझो कि) सर्वगत ब्रह्म ही यज्ञ में सदा अधिष्ठित रहता है। (१६) हे पार्थ! इस प्रकार (जगत् के धारणार्थ) चलाये हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत् में आगे नहीं चलाता, उसकी आयु पापरूप है; उस इन्द्रियलम्पट का (अर्थात् देवताओं को न दे कर, स्वयं उपभोग करनेवाले का) जीवन व्यर्थ है। (१७) परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा म ही रत,

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही संतुष्ट हो जाता है, उसके लिये (स्वयं अपना) कुछ भी कार्य (शेष) नहीं रह जाता; (१८) इस प्रकार यहाँ अर्थात् इस जगत् में (कोई काम) करने से या न करने से भी उसका लाभ नहीं होता; और सब प्राणियों में उसका कुछ भी (निजी) मतलब अटका नहीं रहता । (१९) तस्मात् अर्थात् जब ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोई भी अपेक्षा नहीं रखता तब, तू भी (फल की) आसक्ति छोड़ कर अपना कर्त्तव्यकर्म सदैव किया कर; क्योंकि आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवाले मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

(२०) जनक आदि ने भी इस प्रकार कर्म से ही सिद्धि पाई है। इसी प्रकार लोक-संग्रह पर भी दृष्टि दे कर तुझे कर्म करना ही उचित है।

[पहले चरण में इस बात का उदाहरण दिया है, कि निष्काम कर्मों से सिद्धि मिलती है और दूसरे चरण से भिन्न रीति के प्रतिपादन का आरम्भ कर दिया है।]

(२१) श्रेष्ठ (अर्थात् आत्मज्ञानी कर्मयोगी) पुरुष जो कुछ करता है, वही अन्य अर्थात् साधारण मनुष्य भी किया करते हैं। वह जिसे प्रमाण मान कर अंगीकार करता है लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

(२२) हे पार्थ ! (देखो कि,) त्रिभुवन में न तो मेरा कुछ भी कर्त्तव्य (शेष) रहा है, (और) न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को रह गई है; तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। (२३) क्योंकि, जो मैं कदाचित् आलस्य छोड़ कर कर्मों में न बर्तूंगा तो हे पार्थ ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुकरण करेंगे। (२४) जो मैं कर्म न करूं तो ये सारे लोक उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो जावेंगे, मैं सङ्करकर्ता होऊंगा और इन प्रजाजनों का मेरे हाथ से नाश होगा ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

[भगवान् ने अपना उदाहरण दे कर इस श्लोक में भली भाँति स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि लोकसंग्रह कुछ पाखण्ड नहीं है ।]

(२५) हे अर्जुन ! लोकसंग्रह करने की इच्छा रखनेवाले ज्ञानी पुरुष को आसक्ति छोड़ कर उसी प्रकार बर्तना चाहिये, जिस प्रकार कि (व्यावहारिक) कर्म में आसक्त अज्ञानी लोग बर्ताव करते हैं । (२६) कर्म में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में ज्ञानी पुरुष भेद-भाव उत्पन्न न करे; (आप स्वयं) युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर सभी काम करे और लोगों से खुशी से करावे ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

[मनुष्य का बातूनी, गोच-पेंच लडानेवाला अथवा निरुपयोगी हो जाना ही बुद्धि-भेद है ।]

(२७) प्रकृति के (सत्त्व-रज-तम) गुणों से सब प्रकार कर्म हुआ करते हैं; पर अहङ्कार से मोहित (अज्ञानी पुरुष) समझता है कि मैं कर्ता हूँ; (२८) परन्तु हे महाबाहु अर्जुन ! " गुण और कर्म दोनों ही मुझ से भिन्न हैं " इस तत्त्व को जाननेवाला (ज्ञानी पुरुष), यह समझ कर इनमें आसक्त नहीं होता, कि गुणों का यह खेल आपस में हो रहा है । (२९) प्रकृति के

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

गुणों से बहके हुए लोग गुण और कर्मों में ही आसक्त रहते हैं; इन असर्वज्ञ और मन्द जनों को सर्वज्ञ पुरुष (अपने कर्मत्याग से किसी अनुचित मार्ग में लगा कर) विचला न दे ।

(३०) (इसलिये हे अर्जुन!) मुझ में अध्यात्म बुद्धि से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके और (फल की) आशा एवं ममता छोड़ कर तू निश्चिन्त हो करके युद्ध कर ।

(३१) जो श्रद्धावान् (पुरुष) दोषों को न खोज कर मेरे इस मत के अनुसार नित्य बर्ताव करते हैं, वे भी कर्म से अर्थात् कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥
इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

(३२) परन्तु जो दोषदृष्टि से शंकाएँ करके मेरे इस मत के अनुसार नहीं बर्तते, उन सर्वज्ञान-विमूढ़ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियों को नष्ट हुए समझो ।

(३३) ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार बर्तता है। सभी प्राणी (अपनी-अपनी) प्रकृति के अनुसार रहते हैं, (वहाँ) निग्रह (ज़बर्दस्ती) क्या करेगा ? (३४) इन्द्रिय और उसके (शब्द-स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष (दोनों) व्यवस्थित हैं

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्थात् स्वभावतः निश्चित हैं । प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिये (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं ।

[तेतीसवें श्लोक के ' निग्रह ' शब्द का अर्थ ' निरा संयमन ' ही नहीं है, किन्तु उसका अर्थ ' ज़बर्दस्ती ' अथवा ' हठ ' है.]

(३५) पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है; (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भले ही हो । स्वधर्म के अनुसार (बर्तने में) मृत्यु हो जावे तो भी उसमें कल्याण है, (परन्तु) परधर्म भयङ्कर होता है !

[स्वधर्म वह व्यवसाय है, कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रद्वारा नियत कर दिया गया है; स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है ।]

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

अर्जुन ने कहा—(३६) हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! अब (यह बतलाओ कि) मनुष्य अपनी इच्छा न रहने पर भी किस की प्रेरणा से पाप करता है मानों कोई ज़बर्दस्ती सी करता हो । श्रीभगवान् ने कहा—(३७) इस विषय में यह समझो, कि रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला बड़ा पेटू और बड़ा पापी यह काम एवं यह क्रोध ही शत्रु है । (३८) जिस प्रकार धुएँ से

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

यह क्रोध ही शत्रु है। (३८) जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, धूलि से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार इससे यह सब ढका हुआ है। (३९) हे कौन्तेय ! ज्ञाता का यह कामरूपी नित्यवैरी कभी भी तृप्त न होनेवाला अग्नि ही है; इसने ज्ञान को ढक रखा है। (४०) इंद्रियों को, मन को, और बुद्धि को, इसका अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढक कर) यह मनुष्य को भुलावें में डाल देता है। (४१) अतएव हे भरत-

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ ! पहले इंद्रियों का संयम करके ज्ञान (अध्यात्म) और विज्ञान (विशेष ज्ञान) का नाश करनेवाले इस पापी को तू मार डाल ।

(४२) कहा है कि (स्थूल बाह्य पदार्थों के मान से उनको जाननेवाली) इन्द्रियाँ पर अर्थात् परे हैं, इन्द्रियों के परे मन है, मन से भी परे (व्यवसायात्मक) बुद्धि है, और जो बुद्धि से भी परे है वह आत्मा है । (४३) हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार (जो) बुद्धि से परे है उसको पहचान कर और अपने आपको रोक करके दुरासाद्य कामरूपी शत्रु को तू मार डाल ।

[कामरूपी आसक्ति को छोड़ कर स्वधर्म के अनुसार लोक-संग्रहार्थ समस्त कर्म करने के लिये इन्द्रियों पर अपनी सत्ता होनी चाहिये, वे अपने क़ाबू में रहें बस, यहाँ इतना ही इन्द्रिय-निग्रह विवक्षित है ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

चौथा अध्याय ।

[कर्म किसी से छूटते नहीं हैं, इसलिये निष्काम बुद्धि हो जाने पर भी कर्म करना ही चाहिये; कर्म के मानी ही यज्ञ-याग आदि कर्म हैं; पर मीमांसकों के ये कर्म स्वर्गप्रद हैं अतएव एक प्रकार से बन्धक हैं, इस कारण इन्हें आसक्ति छोड़ करके करना चाहिये; ज्ञान से स्वार्थबुद्धि छूट जावे, तो भी कर्म छूटते नहीं हैं, अतएव ज्ञाता को भी निष्काम कर्म करना ही चाहिये; लोकसंग्रह के लिए यह आवश्यक है;—इत्यादि प्रकार से अब तक कर्मयोग का जो विवेचन किया गया, उसी को इस अध्याय में दृढ़ किया है । कहीं यह शङ्का न हो, कि आयुष्य बिताने का यह मार्ग अर्थात् निष्ठा अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये नई बतलाई गई है; एतदर्थ इस मार्ग की प्राचीन गुरु-परम्परा पहले बतलाते हैं—]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) अव्यय अर्थात् कभी

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

भी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकाल में भी अबाधित और नित्य यह (कर्म-) योग (मार्ग) मैं ने विवस्वान् अर्थात् सूर्य को बतलाया था; विवस्वान् ने (अपने पुत्र) मनु को और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया। (२) ऐसी परम्परा से प्राप्त हुए इस (योग) को राजर्षियों ने जाना। परन्तु हे शत्रुतापन (अर्जुन) ! दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस लोक में नष्ट हो गया। (३) (सब रहस्यों में) उत्तम रहस्य समझ कर इस पुरातन योग (कर्मयोगमार्ग) को, मैंने तुझे आज इसलिये बतला दिया, कि तू मेरा भक्त और सखा है।

[इन तीनों श्लोकों में ' योग ' शब्द से, आयु बिताने के उन दोनों मार्गों में से कि जिन्हें सांख्य और योग कहते हैं, योग

अर्जुन उवाच।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अर्थात् कर्मयोग यानी साम्यबुद्धि से कर्म करने का मार्ग ही अभिप्रेत है ।]

अर्जुन ने कहा—(४) तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है और विवस्वान् का इससे बहुत पहले हो चुका है; (ऐसी दशा में) मैं यह कैसे जानूँ कि तुमने (यह योग) पहले बतलाया ?

श्रीभगवान् ने कहा (५) हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। उन सब को मैं जानता हूँ (और) हे परन्तप ! तू नहीं जानता (यही भेद है)।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

(६) मैं (सब) प्राणियों का स्वामी और जन्म-विरहित हूँ, यद्यपि मेरे आत्मस्वरूप में कभी भी व्यय अर्थात् विकार नहीं होता तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ ।

[इस श्लोक के अध्यात्मज्ञान में कापिल-सांख्य और वेदान्त दोनों ही मतों का मेल कर दिया गया है ।]

(७) हे भारत ! जब जब धर्म की ग्लानि हाती और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब (तब) मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ । (८) साधुओं का संरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

के लिये, युग-युग में धर्म की संस्थापना के अर्थ मैं जन्म लिया करता हूँ।

[इन दोनों श्लोकों में 'धर्म' शब्द का अर्थ केवल पारलौकिक वैदिक धर्म नहीं है। किन्तु चारों वर्णों के धर्म,न्याय और नीति प्रभृति बातों का भी उसमें मुख्यता से समावेश होता है।]

(९) हे अर्जुन! इस प्रकार के मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के तत्त्व को जो जानता है, वह देह त्यागने के पश्चात् फिर जन्म न ले कर मुझ से आ मिलता है। (१०) प्रीति, भय और क्रोध से छूटे हुए, मत्परायण और मेरे आश्रय में आये हुए, अनेक लोग

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

(इस प्रकार) ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर मेरे स्वरूप में आकर मिल गये हैं ।

(११) जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार के फल देता हूँ । हे पार्थ ! किसी भी ओर से हो, मनुष्य मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं ।

['मम वर्त्मानुवर्तन्ते' इत्यादि पहले (३. २३) कुछ निराले अर्थ में आया है, और इससे ध्यान में आवेगा, कि गीता में पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार अर्थ कैसे बदल जाता है ।]

(१२) (कर्मबन्धन के नाश की नहीं, केवल) कर्मफल की इच्छा करनेवाले लोग इस लोक में देवताओं की पूजा इसलिये किया करते हैं, कि (ये) कर्मफल (इसी) मनुष्यलोक में शीघ्र ही मिल जाते हैं ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥
न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

(१३) (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार) चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म के भेद से मैंने निर्माण की है । इसे तू ध्यान में रख, कि मैं उसका कर्ता भी हूँ और अकर्ता अर्थात् उसे न करनेवाला अव्यय (मैं ही) हूँ ।

(१४) मुझे कर्म का लेप अर्थात् बाधा नहीं होती; (क्योंकि) कर्म के फल में मेरी इच्छा नहीं है । जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे कर्म की बाधा नहीं होती ।

(१५) इसे जान कर प्राचीन समय के मुमुक्षु

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

लोगों ने भी कर्म किया था । इसलिये पूर्व के लोगों के किये हुए अति प्राचीन कर्म को ही तू कर !

[इस प्रकार मोक्ष और कर्म का विरोध नहीं है, अतएव अर्जुन को निश्चित उपदेश किया है, तू कर्म कर ।]

(१६) इस विषय में बड़े बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है, कि कौन कर्म है और कौन अकर्म; (अतएव) वैसा कर्म तुझे बतलाता हूँ कि जिसे जान लेने से तू पाप से मुक्त होगा ।

(१७) कर्म की गति गहन है; (अतएव) यह जान लेना चाहिये, कि कर्म क्या है और समझना चाहिये, कि विकर्म (विपरीत कर्म) क्या है और यह

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥
यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥

भी ज्ञात कर लेना चाहिये, कि अकर्म (कर्म न करना) क्या है । (१८) कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म जिसे देख पड़ता है, वह पुरुष सब मनुष्यों में ज्ञानी और वही युक्त अर्थात् योगयुक्त एवँ समस्त कर्म करने-वाला है ।

[इसमें और अगले पाँच श्लोकों में कर्म, अकर्म एवं विकर्म का खुलासा किया गया है; इसमें जो कुछ कमी रह गई है, वह अगले अठारहवें अध्याय में कर्मत्याग, कर्म और कर्ता के त्रिविध भेद-वर्णन में पूरी कर दी गई है (गी. १८. ४–७; १८. २३–२५; १८. २६–२८)]

(१९) ज्ञानी पुरुष उसी को पण्डित कहते हैं, कि जिसके सभी समारम्भ अर्थात् उद्योग फल की इच्छा

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

से विरहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं ।

(२०) कर्मफल की आसक्ति छोड़ कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है (अर्थात् जो पुरुष कर्मफल के साधन की आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता, कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिये अमुक काम करता हूँ)—कहना चाहिये कि—वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता । (२१) आशीः अर्थात् फल की वासना छोड़नेवाला, चित्त का नियमन करनेवाला और सर्वसङ्ग से मुक्त पुरुष केवल शारीर अर्थात् शरीर या कर्मेंद्रियों से ही कर्म करते समय पाप का भागी नहीं होता ।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्धयते॥२२॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

[कुछ लोग बीसवें श्लोक के निराश्रय शब्द का अर्थ 'घर-गृहस्थी न रखनेवाला' (संन्यासी) करते हैं; पर वह ठीक नहीं है।]

(२२) यदृच्छा से जो प्राप्त हो जाय उसमें संतुष्ट, (हर्ष-शोक आदि) द्वन्द्वों से मुक्त, निर्मत्सर, और (कर्म की) सिद्धि या असिद्धि को एक सा ही माननेवाला पुरुष (कर्म) करके भी (उनके पाप-पुण्य से) बद्ध नहीं होता। (२३) आसङ्गरहित, (राग-द्वेष से) मुक्त, (साम्यबुद्धिरूप) ज्ञान में स्थिर चित्तवाले और (केवल) यज्ञ ही के लिये (कर्म) करनेवाले पुरुष के 'समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

(२४) अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है—(इस प्रकार) जिसकी बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्ममय हैं, उसको ब्रह्म ही मिलता है ।

(२५) कोई कोई (कर्म-) योगी (ब्रह्मबुद्धि के बदले) देवता आदि के उद्देश से यज्ञ किया करते हैं; और कोई ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का यजन करते हैं ।

(२६) और कोई श्रोत्र आदि (कान, आँख आदि)

सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापर ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुहूवति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

इंद्रियों का संयमरूप अग्नि में होम करते हैं और कुछ लोग इंद्रियरूप अग्नि में (इन्द्रियों के) शब्द आदि विषयों का हवन करते हैं । (२७) और कुछ लोग इन्द्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों को अर्थात् व्यापारों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योग की अग्नि में हवन किया करते हैं ।

[इन श्लोकों में दो-तीन प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन हैं ।]

(२८) इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करने-वाले यति अर्थात् संयमी पुरुष कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप, कोई स्वाध्याय अर्थात् नित्य स्वकर्मानुष्ठानरूप, और कोई ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं ।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

(२९) प्राणायाम में तत्पर हो कर प्राण और अपान की गति को रोक करके, कोई प्राणवायु का अपान में (हवन किया करते हैं) और कोई अपानवायु का प्राण में हवन किया करते हैं ।

[इस श्लोक का तात्पर्य यह है, कि पातञ्जल-योग के अनुसार प्राणायाम करना भी एक यज्ञ ही है ।]

(३०-३१) और कुछ लोग आहार को नियमित कर, प्राणों में प्राणों का ही होम किया करते हैं । ये सभी लोग सनातन ब्रह्म में जा मिलते हैं कि जो यज्ञ के जाननेवाले हैं, जिनके पाप यज्ञ से क्षीण हो गये हैं (और जो) अमृत का

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

(अर्थात् यज्ञ से बचे हुए का) उपभोग करनेवाले हैं यज्ञ न करनेवाले को (जब) इस लोक में सफलता नहीं होती, (तब) फिर हे कुरुश्रेष्ठ ! (उसे) परलोक कहाँ से (मिलेगा)?

(३२) इस प्रकार भाँति भाँति के यज्ञ ब्रह्म के (ही) मुख में जारी हैं । यह जानो कि, वे सब कर्म से निष्पन्न होते हैं । यह ज्ञान हो जाने से तू मुक्त हो जायगा ।

(३३) हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है । क्योंकि हे पार्थ ! सब प्रकार के समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है ।

(३४) ध्यान में रख, कि प्रणिपात से, प्रश्न करने

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

से और सेवा से तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे; (३५) जिस ज्ञान को पाकर हे पाण्डव ! फिर तुझे ऐसा मोह नहीं होगा और जिस ज्ञान के योग से समस्त प्राणियों को तूं अपने में और मुझ में भी देखेगा।

(३६) सब पापियों से यदि अधिक पाप करने-वाला हो, तो भी (उस) ज्ञान-नौका से ही तू सब पापों को पार कर जावेगा। (३७) जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई आग्न (सब) इंधन को भस्म कर

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! (यह) ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को (शुभ-अशुभ बन्धनों को) जला डालती है।

(३८) इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है। काल पा कर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है, जिसका योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है।

[३७ वें श्लोक में कर्मों का अर्थ 'कर्म का बन्धन' है (गी. ४. १९ देखो.)]

(३९) जो श्रद्धावान् पुरुष इंन्द्रियसंयम करके उसी के पीछे पड़ा रहे, उसे (भी) यह ज्ञान मिल जाता है; और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

(४०) परन्तु जिसे न स्वयं ज्ञान है और न श्रद्धा ही है, उस संशयग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है (ओर) न परलोक,एवं सुख भी नहीं है।

(४१) हे धनञ्जय ! उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म बद्ध नहीं कर सकते, कि जिसने (कर्म-) योग के आश्रय से कर्म अर्थात् कर्मबन्धन त्याग दिये हैं और ज्ञान से जिसके (सब) सन्देह दूर हो गये हैं । (४२) इसलिये अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए इस संशय

को ज्ञानरूप तलवार से काट कर, (कर्म-) योग का आश्रय कर। (और) हे भारत! (युद्ध के लिये) खड़ा हो!

[ईशावास्य उपनिषद् में ' विद्या 'और ' अविद्या ' का पृथक् उपयोग दिखला कर जिस प्रकार दोनों को बिना छोड़े ही आचरण करने के लिये कहा और योग का मेल " ज्ञानयोग-व्यवस्थिति: " पद से दैवी सम्पत्ति के लक्षण (गी. १६. १) में फिर बतलाया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग-अर्थात् कर्मयोग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे, कि ' ज्ञान कर्म-संन्यास ' पद में ' संन्यास ' शब्द का अर्थ स्वरूपत: 'कर्मत्याग' नहीं है; किन्तु निष्कामबुद्धि से परमेश्वर में कर्म का संन्यास अर्थात् ' अर्पण करना ' अर्थ है। और आगे अठारहवें अध्याय के आरम्भ में उसी का खुलासा किया गया है।]

पाँचवा अध्याय।

[चौथे अध्याय के सिद्धान्त पर संन्यासमार्गवालों की जो शङ्का हो सकती है, उसे ही अर्जुन के मुख से, प्रश्नरूप से, कहला कर इस अध्याय में भगवान् ने उसका स्पष्ट उत्तर दे दिया है। यदि समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान है (४. ३३), यदि ज्ञान से ही सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं (४. ३७), और यदि द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है (४.३३); तो दूसरे ही अध्याय में यह कह कर, कि "धर्म्य युद्ध करना ही क्षत्रिय को श्रेयस्कर है" (२. ३१) चौथे अध्याय के उपसंहार में यह बात क्यों कही गई कि "अतएव तू कर्मयोग का आश्रय कर युद्ध के लिये उठ खड़ा हो" (४. ४२)? इस प्रश्न का गीता यह उत्तर देती है, कि समस्त सन्देहों को दूर कर मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है; और यदि मोक्ष के लिये कर्म आवश्यक न हों, तो भी कभी न छूटने के कारण वे लोकसंग्रहार्थ आवश्यक हैं; इस प्रकार ज्ञान और कर्म, दोनों के ही समुच्चय की नित्य अपेक्षा है; (४. ४१)। परन्तु इस पर भी शङ्का होती है, कि यदि कर्मयोग और सांख्य दोनों ही मार्ग शास्त्र में विहित हैं तो इनमें से अपनी इच्छा के अनु-सार सांख्यमार्ग को स्वीकार कर कर्मों का त्याग करने में हानि

पंचमोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

ही क्या है ? अर्थात् इसका पूरा निर्णय हो जाना चाहिये, कि इन दोनों मार्गों में श्रेष्ठ कौन सा है। और अर्जुन के मन में यही शङ्का हुई है। उसने तीसरे अध्याय के आरम्भ में जैसा प्रश्न किया था वैसा ही अब भी वह पछता है, कि—]

(१) अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! (तुम) एक बार संन्यास को और दूसरी बार कर्मों के योग को (अर्थात् कर्म करते रहने के मार्ग को ही) उत्तम बतलाते हो अब निश्चय कर मुझे एकही (मार्ग) बतलाओ, कि जो इन दोनों में सचमुच ही श्रेय अर्थात् अधिक प्रशस्त हो। (२) श्रीभगवान् ने कहा—कर्मसंन्यास और कर्मयोग

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदते फलम् ॥ ४ ॥

दोनों निष्ठाएँ या मार्ग निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले हैं; परन्तु (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों कीं योग्यता समान होने पर भी) इन दोनों में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।

(३) जो (किसी का भी) द्वेष नहीं करता और (किसी की भी) इच्छा नहीं करता, उस पुरुष को (कर्म करने पर भी) नित्यसंन्यासी समझना चाहिये, क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन ! जो (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों से मुक्त हो जाय वह अनायास ही (कर्मों के सब) बन्धों से मुक्त हो जाता है। (४) मूर्ख लोग कहते हैं, कि सांख्य (कर्मसंन्यास) और योग (कर्मयोग)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु पंडित लोग ऐसा नहीं कहते। किसी भी एक मार्ग का भली भाँति आचरण करने से दोनों का फल मिल जाता है। (५) जिस (मोक्ष) स्थान में सांख्य- (मार्गवाले लोग) पहुँचते हैं, वहीं योगी अर्थात् कर्मयोगी भी जाते हैं। (इस रीति से ये दोनों मार्ग) सांख्य और योग एक ही हैं; जिसने यह जान लिया उसी ने (ठीक तत्त्व को) पहचाना। (६) हे महाबाहु! योग अर्थात् कर्म के बिना संन्यास को प्राप्त कर लेना कठिन है। जो मुनि कर्मयोग-युक्त हो गया, उसे ब्रह्म की प्राप्ति होने में विलम्ब नहीं लगता।

[सातवें अध्याय से ले कर सत्रहवें अध्याय तक इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, कि सांख्यमार्ग से जो मोक्ष

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥

मिलता है, वही कर्मयोग से अर्थात् कर्मों के न छोड़ने पर भी मिलता है। यहाँ तो इतना ही कहना है, कि मोक्ष की दृष्टि से दोनों में कुछ फ़र्क नहीं है, इस कारण अनादि काल से चलते आये हुए इन मार्गों का भेद-भाव बढ़ा कर झगड़ा करना उचित नहीं है; और आगे भी यही युक्तियाँ पुनः पुनः आई हैं (गी. ६. २ और १८. १, २ एवं उनकी टिप्पणी देखो।)]

(७) जो (कर्म-) योगयुक्त हो गया, जिसका अन्तः-करण शुद्ध हो गया, जिसने अपने मन और इन्द्रियों को जीत लिया और सब प्राणियों का आत्मा ही जिसका आत्मा हो गया, वह सब कर्म करता हुआ भी (कर्मों के पुण्य-पाप से) अलिप्त रहता है। (८) योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुष को समझना चाहिये, कि " मैं कुछ भी

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यत न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥

नहीं करता;" और) देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, खाने में, सूँघने में, चलने में, सोने में, साँस लेने-छोड़ने में, (९) बोलने में, विसर्जन करने में, लेने में, आँखों के पलक खोलने और बन्द करने में भी, ऐसी बुद्धि रख कर व्यवहार करे कि (केवल) इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्तती हैं ।

[अन्त के दो श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है, और उसमें बतलाये हुए सब कर्म भिन्न भिन्न इन्द्रियों के व्यापार हैं.]

(१०) जो ब्रह्म में अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उसको वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता । (११) (अतएव) कर्मयोगी (ऐसी अहङ्कार-बुद्धि न रख कर कि

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥१२॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३ ॥

मैं करता हूँ, केवल) शरीर से, (केवल) मन से, (केवल) बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी, आसक्ति छोड़ कर, आत्मशुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं। (१२) जो युक्त अर्थात् योगयुक्त हो गया, वह कर्म-फल छोड़ कर अन्त की पूर्ण शांति पाता है; और जो अयुक्त है अर्थात् योगयुक्त नहीं है, वह काम से अर्थात् वासना से फल के विषय में सक्त हो कर (पाप-पुण्य से) बद्ध हो जाता है। (१३) सब कर्मो का मन से (प्रत्यक्ष नहीं) संन्यास कर, जितेन्द्रिय देह-वान् (पुरुष) नौ द्वारों के इस (देहरूपी) नगर में न कुछ करता और न कराता हुआ आनन्द से पड़ा रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ॥ १५ ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

(१४) प्रभु अर्थात् आत्मा या परमेश्वर लोगों के कर्तृत्व को, उनके कर्म को, (या उनको प्राप्त होनेवाले) कर्मफल के संयोग को भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही (सब कुछ) किया करती है। (१५) विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा या परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

(१६) परन्तु ज्ञान से जिसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिये उन्हीं का ज्ञान परमार्थ-तत्त्व को,

तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

सूर्य के समान, प्रकाशित कर देता है। (१७) और उस परमार्थ-तत्त्व में ही जिनकी बुद्धि रँग जाती है, वहीं जिनका अन्तःकरण रम जाता है और जो तन्निष्ठ एवं तत्परायण हो जाते हैं, उनके पाप ज्ञान से बिलकुल धुल जाते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते।

(१८) पण्डितों की अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, ऐसे ही कुत्ता और चाण्डाल, सभी के विषय में समान रहती है! (१९) इस प्रकार जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हो जाता

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

है, वे यहीं के यहीं अर्थात् मरण की प्रतीक्षा न कर, मृत्युलोक को जीत लेते हैं। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अतः ये (साम्य-बुद्धिवाले) पुरुष (सदैव) ब्रह्म में स्थित, अर्थात् यहीं के यहीं ब्रह्मभूत, हो जाते हैं।

[जिसनें इस तत्त्व को जान लिया कि 'आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्ता है और सारा खेल प्रकृति का है,' वह 'ब्रह्मसंस्थ' हो जाता है और उसी को मोक्ष मिलता है —'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छां. २. २३. १); उक्त वर्णन उपनिषदों में है और उसी का अनुवाद ऊपर के श्लोकों में किया गया है। परन्तु इस अध्याय के १–१२ श्लोकों से गीता का यह अभिप्राय प्रगट होता है, कि इस अवस्था में भी कर्म नहीं छूटते]

(२०) जो प्रिय अर्थात् इष्ट वस्तु को पा कर प्रसन्न न हो जावे और अप्रिय को पाने से खिन्न भी न होवे, (इस प्रकार) जिसकी बुद्धि स्थिर है और जो मोह में नहीं फँसता, उसी ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म में स्थित

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ २१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यंतवंतः कौंतेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

हुआ समझो। (२१) बाह्य पदार्थों के (इन्द्रियों से होनेवाले) संयोग में अर्थात् विषयोपभोग में जिसका मन आसक्त नहीं, उसे (ही) आत्मसुख मिलता है; और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है। (२२) (बाहरी पदार्थों के) संयोग से ही उत्पन्न होनेवाले भोगों का आदि और अन्त है; अतएव वे दुःख के ही कारण हैं; हे कौन्तेय ! उन में पण्डित लोग रत नहीं होते (२३) शरीर छूटने के पहले अर्थात् मरण पर्यन्त काम-क्रोध से होनेवाले वेग को इस लोक

योऽतःसुखोऽतरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५ ॥

में ही सहन करने में (इन्द्रियसंयम से) जो समर्थ हाता है, वही युक्त और वही (सच्चा) सुखी है।

(२४) इस प्रकार (बाह्य सुख-दुःखों की अपेक्षा न कर) जो अंतःसुखी अर्थात् अन्तःकरण में ही सुखी हो जाय, जो अपने आप में ही आराम पाने लगे, और ऐसे ही जिसे (यह) अन्तःप्रकाश मिल जाय, वह (कर्म-) योगी ब्रह्मरूप हो जाता है एवं उसे ही ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त हो जाता है। (२५) जिन ऋषियों की द्वन्द्वबुद्धि छूट गई है अर्थात् जिन्होंने इस तत्त्व को जान लिया है, कि सब स्थानों में एक ही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं और जो आत्मसंयम से सब प्राणियों का हित करने

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ॥२७॥
यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

में रत हो गये हैं, उन्हें यह ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिलता है। (२६) काम-क्रोधविरहित, आत्मसंयमी और आत्म-ज्ञानसम्पन्न यतियों को अभितः अर्थात् आसपास या सन्मुख रखा हुआ सा (बैठे बिठाये) ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। (२७) बाह्यपदार्थों के (इन्द्रियों के सुख-दुःखदायक) संयोग से अलग हो कर, दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि को जमा कर और नाक से चलनेवाले प्राण एवं अपान को सम करके (२८) जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम कर लिया है,

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा-सर्वदा मुक्त ही है।

[गीतारहस्य के नवम और दशम प्रकरणों से ज्ञात होगा, कि यह वर्णन जीवन्मुक्तावस्था का है।]

(२९) जो मुझ को (सब) यज्ञों और तपों का भोक्ता, (स्वर्ग आदि) सब लोकों का बड़ा स्वामी, एवं सब प्राणियों का मित्र जानता है, वही शान्ति पाता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गतयोग—अर्थात् कर्मयोग-शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में संन्यास-योग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

छटा अध्याय ।

[इतना तो सिद्ध हो गया, कि मोक्षप्राप्ति होने के लिये और किसी की भी अपेक्षा न हो, तो भी लोकसंग्रह की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के अनन्तर भी कर्म करते रहना चाहिये; परंतु फलाशा छोड़ कर उन्हें समबुद्धि से इसलिये करे ताकि वे बन्धक न हो जावें, इसे ही कर्मयोग कहते हैं और कर्मसंन्यासमार्ग की अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है । तथापि इतने से ही कर्मयोग का प्रतिपादन समाप्त नहीं होता । तीसरे ही अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से काम-क्रोध आदि का वर्णन करते हुए कहा है, कि ये शत्रु मनुष्य की इन्द्रियों में, मन में, और बुद्धि में घर करके ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देते हैं (३. ४०), अतः तू इंद्रियों के निग्रह से इनको पहले जीत ले । इस उपदेश को पूर्ण करने के लिये इन दो प्रश्नों का खुलासा करना आवश्यक था, कि (१) इन्द्रियनिग्रह कैसे करें और (२) ज्ञानविज्ञान किसे कहते हैं; परन्तु बीच में ही अर्जुन के प्रश्नों से यह बतलाना पड़ा, कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग में अधिक अच्छा मार्ग कौन सा है; फिर इन दोनों मार्गों की यथाशक्य एकवाक्यता करके यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मों को न छोड़ कर, निःसङ्गबुद्धि से करते जाने पर ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष क्योंकर मिलता है । अब

षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

[इस अध्याय में उन साधनों के निरूपण करने का आरंभ किया गया है । जिनकी आवश्यकता कर्मयोग में भी उक्त निःसङ्ग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करने में होती है । तथापि स्मरण रहे, कि यह निरूपण भी कुछ स्वतन्त्र रीति से पातञ्जलयोग का उपदेश करने के लिये नहीं किया गया है । और, यह बात पाठकों के ध्यान में आ जायँ, इसलिहे यहाँ पिछले अध्यायों में प्रतिपादन की हुई बातों का ही प्रथम उल्लेख किया गया है, जैसे फलाशा छोड़ कर कर्म करनेवाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिये-कर्म छोड़नेवाले को नहीं (५. ३) इत्यादि ।]

(१) कर्मफल का आश्रय न करके (अर्थात् मन में फलाशा को न टिकने दे कर) जो (शास्त्रानुसार अपने विहित) कर्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

और वही कर्मयोगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देनेवाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोई भी कर्म न करके निठल्ले बैठनेवाला (सच्चा संन्यासी और योगी) नहीं है। (२) हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को (कर्म-) योग समझो। क्योंकि संकल्प अर्थात् काम्यबुद्धिरूप फलाशा का संन्यास (=त्याग) किये बिना कोई भी (कर्म-) योगी नहीं होता।

[गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्र रख कर यज्ञ-याग आदि कर्म करने पड़ते हैं, पर जो संन्यासाश्रमी हो गया हो, उसके लिये मनुस्मृति में कहा है, कि उसको इस प्रकार अग्नि की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इस कारण वह 'निरग्नि' हो जाय और जङ्गल में रह कर भिक्षा से पेट पाले–जगत् के व्यवहार में न पड़े (मनु. ६. २५ इत्यादि)। पहले श्लोक में मनु के इसी मत का उल्लेख किया गया है और इस पर भगवान् का कथन है, कि निरग्नि और निष्क्रिय होना कुछ सच्चे संन्यास का लक्षण नहीं

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

है। काम्यबुद्धि का या फलाशा का त्याग करना ही सच्चा संन्यास है। संन्यास बुद्धि में है; अग्नि-त्याग अथवा कर्म-त्याग की बाह्य क्रिया में नहीं है। अतएव फलाशा अथवा संकल्प का त्याग कर कर्तव्य-कर्म करनेवाले को ही सच्चा संन्यासी कहना चाहिये। गीता का यह सिद्धान्त स्मृतिकारों के सिद्धान्त से भिन्न है। गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण में स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि गीता ने स्मृतिकारों से इसका मेल कैसे किया है।]

(३) (कर्म-) योगारूढ होने की इच्छा रखनेवाले मुनि के लिये कर्म को (शम का) कारण अर्थात् साधन कहा है; और उसी पुरुष के योगारूढ अर्थात् पूर्ण योगी हो जाने पर उसके लिये (आगे) शम (कर्म का) कारण हो जाता है।

[इसमें कोई सन्देह नहीं, कि योगाभ्यास करनेवाले जिस पुरुष का वर्णन इस श्लोक के पूर्वार्ध में किया गया है, उसकी जो स्थिति अभ्यास पूरा हो चुकने पर होती है, उसे बतलाने के लिये उत्तरार्ध का आरम्भ हुआ है। उत्तरार्ध

यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

का अर्थ करने में पूर्वार्ध का 'कर्म' पद सान्निध्य-सामर्थ्य से सहज ही मन में आ जाता है; और फिर यह अर्थ निष्पन्न होता है, कि योगारूढ़ पुरुष को लोकसंग्रहकारक कर्म करने के लिये अब 'शम' 'कारण' या साधन हो जाता है, क्योंकि यद्यपि उसका कोई स्वार्थ शेष नहीं रह गया है, तथापि लोकसंग्रहकारक कर्म किसी से छूट नहीं सकते (देखो गी. ३. १७-१९)। हमारा यह मत है, कि अलङ्कार-शास्त्र के अन्योन्यालङ्कार का सा अर्थ-चमत्कार या सौरस्य इस श्लोक में सध गया है; और पूर्वार्ध में यह बतला कर, कि 'शम' का कारण 'कर्म' कब होता है, उत्तरार्ध में इसके विपरीत वर्णन किया है, कि 'कर्म' का कारण 'शम' कब होता है। सारांश, इस श्लोक का भावार्थ यह नहीं है, कि सिद्धावस्था में कर्म छूट जाते हैं। गीता का कथन है, कि साधानावस्था में 'कर्म' और 'शम' के बीच जो कार्य-कारण भाव होता है, सिर्फ वही सिद्धावस्था में बदल जाता है (देखो गीतारहस्य, प्रकरण ११).]

(४) क्योंकि जब वह इन्द्रियों के (शब्द-स्पर्श आदि) विषयों में और कर्मों में अनुपक्त नहीं होत

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

तथा सब सङ्कल्प अर्थात् काम्यबुद्धि-रूप फलाशा का (प्रत्यक्ष कर्मों का नहीं) संन्यास करता है, तब उसको योगारूढ़ कहते हैं ।

[कह सकते हैं, कि यह श्लोक पिछले श्लोक के साथ और पहले तीनों श्लोक के साथ भी मिला हुआ है ।]

(५) (मनुष्य) अपना उद्धार आप ही करे । अपने आप को (कभी भी) गिरने न दे । क्योंकि (प्रत्येक मनुष्य) स्वयं ही अपना बन्धु (अर्थात् सहायक), या स्वयं अपना शत्रु है । (६) जिसने अपने आप को जीत लिया, वह स्वयं अपना बन्धु है, परन्तु जो अपने आप को नहीं पहचानता, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान बैर करता है ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

[इन दो श्लोकों में आत्म-स्वतन्त्रता का वर्णन है और इस तत्त्व का प्रतिपादन है, कि हर एक को अपना उद्धार आप ही कर लेना चाहिये; और प्रकृति कितनी ही बलवती क्यों न हो, उसको जीत कर आत्मोन्नति कर लेना हर एक के स्वाधीन है । संस्कृत में 'आत्मा' शब्द के ये तीन अर्थ होते हैं (१) अन्तरात्मा, (२) मैं स्वयं, और (३) अन्तःकरण या मन । इसी से यह आत्मा शब्द इसमें और अगले श्लोकों में अनेक बार आया है ।]

(७) जिसने अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को जीत लिया है और जिसे शान्ति प्राप्त हो गई हो, उसका 'परमात्मा' शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में समाहित अर्थात् सम एवं स्थिर रहता है ।

[इस श्लोक में 'परमात्मा' शब्द आत्मा के लिये ही प्रयुक्त है । देह का आत्मा सामान्यतः सुख-दुःख की उपाधि में मग्न रहता है; परन्तु इन्द्रिय-संयम से उपाधियों को जीत लेने पर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमात्मरूपी या परमेश्वरस्वरूपी बना करता है ।]

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकांचनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
योगी युंजीत संततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

(८) जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान से तृप्त हो जाय, जो अपनी इन्द्रियों को जीत ले, जो कूटस्थ अर्थात् मूल में जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर एवं सोने को एक सा मानने लगे, उसी (कर्म-) योगी पुरुष को 'युक्त' अर्थात् सिद्धावस्था को पहुँचा हुआ कहते हैं। (९) सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बान्धव, साधु और दुष्ट लोगों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम हो गई हो, वही (पुरुष) विशेष योग्यता का है।

(१०) योगी अर्थात् कर्मयोगी एकान्त में अकेला

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

रह कर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी काम्य वासना को न रख कर, परिग्रह अर्थात् पाश छोड़ करके निरन्तर अपने योगाभ्यास में लगा रहे।

[अगले श्लोक से स्पष्ट होता है, कि यहाँ पर 'युञ्जीत' पद से पातञ्जल सूत्र का योग विवक्षित है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं, कि कर्मयोग को प्राप्त कर लेने की इच्छा करनेवाला पुरुष अपनी समस्त आयु पातञ्जल-योग में बिता दे। कर्मयोग के लिये आवश्यक साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये साधन-स्वरूप पातञ्जल-योग इस अध्याय में वर्णित है, और इतने ही के लिये एकान्तवास भी आवश्यक है।]

(११) योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावे, जोकि न बहुत ऊँचा हो और न नीचा, उस पर पहले दर्भ, फिर मृगछाला और फिर वस्त्र बिछावें; (१२) वहाँ चित्त और इंद्रियों के व्यापार

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

को रोक कर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिये आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे । (१२) काय अर्थात् पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखा में निश्चल करके, स्थिर होता हुआ, दिशाओं को यानी इधर-उधर न देखे; और अपनी नाक की नोंक पर दृष्टि जमा कर, (१४) निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य-व्रत पाल कर तथा मन का संयम करके, मुझ में ही चित्त लगा कर, मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय ।

[हटयोग में इन्द्रियों का निग्रह बलात्कार से किया जाता है; पर आगे इसी अध्याय के २४ वें श्लोक में कहा है, कि ऐसा

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

न करके " मनसैव इन्द्रियग्रामं विनियम्य "--मन से ही इंद्रियों को रोके। इससे प्रगट है, कि गीता में हठयोग विवक्षित नहीं।]

(१५) इस प्रकार सदा अपना योगाभ्यास जारी रखने से मन क़ाबू में होकर (कर्म-) योगी को मुझमें रहनेवाली और अन्त में निर्वाण-प्रद अर्थात् मेरे स्वरूप में लीन कर देनेवाली शान्ति प्राप्त होती है।

[इस श्लोक में 'सदा' पद से प्रतिदिन के २४ घण्टों का मतलब नहीं; इतना ही अर्थ विवक्षित है, कि प्रतिदिन यथाशक्ति घड़ी घड़ी भर यह अभ्यास करे।]

(१६) हे अर्जुन! अतिशय खानेवाले या बिलकुल न खानेवाले और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करने-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

वाले को (यह) योग सिद्ध नहीं होता। (१७) जिसका आहारविहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसको (यह) योग दुःख-घातक अर्थात् सुखावह होता है।

[इस श्लोक में 'योग' से पातञ्जल-योग की क्रिया और 'युक्त' से नियमित, नपी-तुली अथवा परिमित का अर्थ है। आगे भी दो-एक स्थानों पर योग से पातञ्जल-योग का ही अर्थ है। तथापि इतने ही से यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि इस अध्याय में पातञ्जल-योग ही स्वतन्त्र रीति से प्रतिपाद्य है।]

(१८) जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है, और किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः॥ १९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥२०॥
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

कहते हैं कि वह 'युक्त' हो गया। (१९) वायुरहित स्थान में रखे हुये दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगी को दी जाती है।

(२०) योगानुष्ठान से निरुद्ध चित्त जिस स्थान में रम जाता है, और जहाँ स्वयं आत्मा को देख कर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है, (२१) जहाँ (केवल) बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है और जहाँ वह (एक बार)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥

स्थिर हुआ तो तत्त्व से कभी नहीं डिगता, (२२) ऐसे ही जिस स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जँचता, और जहाँ स्थिर होने से कोई भी बड़ा भारी दुःख (उसको) वहाँ से बिचला नहीं सकता, (२३) उसको दुःख के स्पर्श से वियोग अर्थात् 'योग' नाम की स्थिति कहते हैं; और इस 'योग' का आचरण मन को उकताने न देकर निश्चय से करना चाहिये।

[इन चारों श्लोक का एक ही वाक्य है। २४ वें श्लोक के आरम्भ के ' उसको ' (तं) इस दर्शक सर्वनाम से पहले श्लोकों का वर्णन उद्दिष्ट है; और चारों श्लोकों में ' समाधि ' का वर्णन पूरा किया गया है।]

संकल्पप्रभावान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

(२४) सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं अर्थात् वासनाओं का निःशेष त्याग कर और मन से ही सब इन्द्रियों का चारों ओर से संयम कर । (२५) धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे शांत होता जावे और मन को आत्मा में स्थिर करके, कोई भी विचार मन में न आने दे । (२६) (इस रीति से चित्त को एकाग्र करते हुए) चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ बाहर जावे, वहाँ-वहाँ से रोक कर उसको आत्मा के ही स्वाधीन करे ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

(२७) इस प्रकार शान्तचित्त, रज से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत (कर्म-) योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है । (२८) इस रीति से निरन्तर अपना योगाभ्यास करनेवाला (कर्म-) योगी पापों से छूट कर ब्रह्म-संयोग से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त सुख का आनन्द से उपभोग करता है ।

(२९) (इस प्रकार) जिसका आत्मा योगयुक्त हो गया है, उसकी दृष्टि सम हो जाती है और उसे सर्वत्र देख पड़ने लगता है, कि मैं सब प्राणियों में हूँ

योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

और सब प्राणी मुझ में है । (३०) जो मुझ (परमेश्वर परमात्मा) को सब स्थानों में और सब को मुझ में देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वही मुझ से कभी दूर होता है ।

[इन दो श्लोकों में पहला वर्णन ' आत्मा ' शब्द का प्रयोग कर अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से और दूसरा वर्णन प्रथमपुरुष-दर्शक ' मैं ' पद के प्रयोग से व्यक्त अर्थात् भक्ति-दृष्टि से, किया गया है । परन्तु अर्थ दोनों का एक ही है (देखो गीतार. प्र. १३) मोक्ष और कर्मयोग इन दोनों का एक ही आधार यह ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि ही है ।]

(३१) जो एकत्वबुद्धि अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धि को मन में रख सब प्राणियों में रहनेवाले मुझ को (पर-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ३३

सेश्वर को) भजता है, वह (कर्म-) योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ में रहता है। (३२) हे अर्जुन ! सुख हो या दुःख, अपने समान औरों को भी होता है, जो ऐसी (आत्मौपम्य) दृष्टि से सर्वत्र देखने लगे, वह (कर्म-) योगी परम अर्थात् उत्कृष्ट माना जाता है।

अर्जुन ने कहा—(३३) हे मधुसूदन ! साम्य अथवा साम्यबुद्धि से प्राप्त होनेवाला जो यह (कर्म-)योग तुमने बतलाया, मैं नहीं देखता, कि (मन की) चंचलता के

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

कारण वह स्थिर रहेगा। (३४) क्योंकि हे कृष्ण! यह मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है। वायु के समान, अर्थात् हवा की गठरी बाँधने के समान, इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखता है।

[३३ वें श्लोक के 'साम्य' अथवा 'साम्यबुद्धि' से प्राप्त होनेवाला, इस विशेषण से यहाँ योग शब्द का कर्मयोग ही अर्थ है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(३५) हे महाबाहु अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं, कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है; परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। (३६) मेरे मत में, जिसका अन्तःकरण क़ाबू में नहीं, उसको (इस साम्यबुद्धिरूप) योग का प्राप्त होना कठिन है; किन्तु अन्तःकरण को क़ाबू में रख कर प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।

[किसी भी काम को बराबर करना ' अभ्यास ' कहलाता है और ' वैराग्य ' का मतलब है राग या प्रीति न रखना अर्थात् इच्छा-विहीनता।]

अर्जुन ने कहा—(३७) हे कृष्ण! श्रद्धा (तो) हो, परन्तु (प्रकृति स्वभाव से) पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन (साम्यबुद्धिरूप कर्म-)

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

योग से विचल जावे, वह योग-सिद्धि न पा कर किस गति को जा पहुँचता है ? (३८) हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! यह पुरुष मोहग्रस्त हो कर ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिन्न-भिन्न बादल के समान (बीच में ही) नष्ट तो नहीं हो जाता ? (३९) हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देह को तुम्हें ही निःशेष दूर करना चाहिये; तुम्हें छोड़ इस सन्देह का मेटनेवाला दूसरा कोई न मिलेगा ।

[यद्यपि नञ् समास में आरम्भ के नञ् (अ) पद का साधारण अर्थ 'अभाव' होता है, तथापि कई बार अल्प अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ करता है, इस कारण ३७ वें श्लोक के

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ॥
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

'अयति' शब्द का अर्थ "अल्प अर्थात् अधूरा प्रयत्न या संयम करनेवाला" है।]

श्रीभगवान् ने कहा--(४०) हे पार्थ! क्या इस लोक में और क्या परलोक में, ऐसे पुरुष का कभी विनाश होता नहीं। क्योंकि हे तात! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। (४१) पुण्यकर्ता पुरुषों को मिलनेवाले (स्वर्ग आदि) लोकों को पा कर और (वहाँ) बहुत वर्षों तक निवास करके फिर यह योगभ्रष्ट अर्थात् कर्मयोग से भ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है;

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन॥ ४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

(४२) अथवा बुद्धिमान् (कर्म-) योगियों के ही कुल में जन्म पाता है। इस प्रकार का जन्म (इस) लोक में बड़ा दुर्लभ है। (४३) उसमें अर्थात् इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धिसंस्कार को पाता है; और हे कुरुनन्दन! यह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग-) सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। (४४) अपने पूर्वजन्म के उस अभ्यास से ही अवश अर्थात् अपनी इच्छा न रहने पर भी, वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। जिसे (कर्म-) योग की जिज्ञासा, अर्थात् जान लेने

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥

की इच्छा, हो गई है वह भी शब्दब्रह्म के परे चला जाता है। (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक उद्योग करते करते पापों से शुद्ध होता हुआ (कर्म-) योगी अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि पा कर अन्त में उत्तम गति पा लेता है!

[इन श्लोकों में योग, योगभ्रष्ट और योगी शब्द कर्मयोग, कर्मयोग से भ्रष्ट और कर्मयोगी के अर्थ में ही व्यवहृत हैं। क्योंकि श्रीमान्कुल में जन्म लेने की स्थिति दूसरों को इष्ट होना सम्भव ही नहीं है।]

(४६) तपस्वी लोगों की अपेक्षा (कर्म-) योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है और कर्म काण्डवालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है; इसलिये हे अर्जुन! तू योगी अर्थात् कर्मयोगी हो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

[जङ्गल में जा कर उपवास आदि शरीर को क्लेशदायक व्रतों से अथवा हठयोग के साधनों से सिद्धि पानेवाले लोगों को इस श्लोक में तपस्वी कहा है; और सामान्य रीति से इस शब्द का यही अर्थ है । " ज्ञानयोगेन सांख्यानां० " (गी. ३. ३) में वर्णित, ज्ञान से अर्थात् सांख्यमार्ग से कर्म को छोड़ कर सिद्धि प्राप्त कर लेनेवाले सांख्यनिष्ठ लोगों को ज्ञानी माना है । इसी प्रकार गी. २. ४२–४४ और ९. २०, २१ में वर्णित, निरे काम्य कर्म करनेवाले स्वर्ग-परायण कर्मठ मीमांसकों को कर्मी कहा है। इन तीनों पन्थों में से प्रत्येक कहता है, कि हमारे ही मार्ग से सिद्धि मिलती है । किन्तु अब गीता का यह कथन है, कि तपस्वी हो चाहे कर्मठ मीमांसक हो, या ज्ञाननिष्ठ सांख्य हो, इनमें प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी–अर्थात् कर्मयोग-मार्ग भी–श्रेष्ठ है । यदि इस प्रकार कर्मयोग को श्रेष्ठ न मानें, तो " तस्मात् तू योगी हो " इस उपदेश का ' तस्मात्=इसी लिये ' यह निरर्थक हो जावेगा ।]

(४७) तथापि सब (कर्म-) योगियों में भी मैं

उसे ही सब में उत्तम युक्त अर्थात् उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूं कि जो मुझ में अन्तःकरण रख कर श्रद्धा से मुझ को भजता है ।

[इस श्लोक का यह भावार्थ है, कि कर्मयोग में भी भक्ति का प्रेम-पूरित मेल हो जाने से, यह योगी भगवान् को अत्यंत प्रिय हो जाता है; इसका यह अर्थ नहीं है, कि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ध्यान-योग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ

सातवाँ अध्याय ।

[पहले यह प्रतिपादन किया गया, कि कर्मयोग सांख्यमार्ग के समान ही मोक्षप्रद है परन्तु स्वतन्त्र है और उससे श्रेष्ठ है और यदि इस मार्ग का थोड़ा भी आचरण किया जाय, तो वह व्यर्थ नहीं जाता; अनन्तर इस मार्ग की सिद्धि के लिये आवश्यक इंद्रिय-निग्रह करने की रीति का वर्णन किया गया है। किन्तु इन्द्रिय-निग्रह से मतलब निरी बाह्य क्रिया से नहीं है, जिसके लिये इंद्रियों की यह कसरत करनी है, उसका अब तक विचार नहीं हुआ। तीसरे अध्याय में भगवान् ने ही अर्जुन को इन्द्रिय-निग्रह का यह प्रयोजन बतलाया है, कि " काम-क्रोध आदि शत्रु इन्द्रियों में अपना घर बना कर ज्ञान-विज्ञान का नाश करते हैं " (३. ४०, ४१) इसलिये पहले तू इन्द्रिय-निग्रह करके इन शत्रुओं को मार डाल। और पिछले अध्याय में योगयुक्त पुरुष का यों वर्णन किया है, कि इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा " ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हुआ " (६. ८) योगयुक्त पुरुष " समस्त प्राणियों में परमेश्वर को और परमेश्वर में समस्त प्राणियों को देखता है " (६. २९)। अतः जब इन्द्रिय-निग्रह करने की विधि बतला चुके तब यह बतलाना आवश्यक हो गया कि ' ज्ञान ' और ' विज्ञान ' किसे

कहते हैं, और परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होकर कर्मो को न छोड़ते हुए भी कर्मयोग-मार्ग की किन विधियों से अन्त में निःसंदिग्ध मोक्ष मिलता है। सातवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय के अन्त पर्यन्त—ग्यारह अध्यायों में—इसी विषय का वर्णन है और अन्त के अर्थात् अठारहवें अध्याय में सब कर्मयोग का उपसंहार है। सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान् पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है–इस समझ का नाम है 'ज्ञान' और एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान् पदार्थों की उत्पत्ति को समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है (गी. १३. ३०), एवं इसी को क्षर-अक्षर का विचार कहते हैं। इसके सिवा अपने शरीर में अर्थात् क्षेत्र में जिसे आत्मा कहते हैं, उसके सच्चे स्वरूप को जान लेने से भी परमेश्वर के स्वरूप का बोध हो जाता है। इस प्रकार के विचार को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार कहते हैं। इनमें से पहले क्षर-अक्षर के विचार का वर्णन करके फिर तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार का वर्णन किया है। यद्यपि परमेश्वर एक है, तथापि उपासना की दृष्टि से उसमें दो भेद होते हैं, उसका अव्यक्त स्वरूप केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है और व्यक्त स्वरूप प्रत्यक्ष अवगम्य है। अतः इन दोनों मार्गों या विधियों को इसी निरूपण में बतलाना पड़ा, कि बुद्धि

से परमेश्वर को कैसे पहचाने और श्रद्धा या भक्ति से व्यक्त स्वरूप की उपासना करने से उसके द्वारा अव्यक्त का ज्ञान कैसे होता है। तब इस समूचे विवेचन में यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसके सिवा, इन दो मार्गों से परमेश्वर के ज्ञान के साथ ही इन्द्रिय-निग्रह भी आप ही आप हो जाता है, अतः केवल इन्द्रिय-निग्रह करा देनेवाले पातंजल-योग-मार्ग की अपेक्षा मोक्षधर्म में ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की योग्यता भी अधिक मानी जाती है। तो भी स्मरण रहे, कि यह सारा विवेचन कर्मयोगमार्ग के उपपादन का एक अंश है, वह स्वतन्त्र नहीं है। अर्थात् गीता के पहले छः अध्यायों में कर्म, दूसरे षट्क में भक्ति और तीसरी षडध्यायी में ज्ञान, इस प्रकार गीता के जो तीन स्वतन्त्र विभाग किये जाते हैं, वे तत्त्वतः ठीक नहीं हैं। स्थूलमान से देखने में ये तीनों विषय गीता में आये हैं सही, परन्तु वे स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु कर्मयोग के अङ्गों के रूप से ही उनका विवेचन किया गया है। इस विषय का प्रतिपादन गीता-रहस्य के चौदहवें प्रकरण (पृ. ४५२–४५७) में किया है, इसलिये यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं करते। अब देखना चाहिये, कि सातवें अध्याय का आरम्भ भगवान् किस प्रकार करते है।]

सप्तमोऽध्यायः।

श्री भगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान् ने कहा—(१) हे पार्थ ! मुझ में चित्त लगा कर और मेरा ही आश्रय करके (कर्म-) योग का आचरण करते हुए तुझे जिस प्रकार से या जिस विधि से मेरा पूर्ण और संशयविहीन ज्ञान होगा, उसे सुन। (२) विज्ञान समेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझ से कहता हूँ, कि जिसके जान लेने से इस लोक में फिर और कुछ भी जानने के लिये नहीं रह जाता ।

[पहले श्लोक के " मेरा ही आश्रय करके" इन शब्दों से और विशेष कर 'योग' शब्द से प्रगट होता है, कि पहले के

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अध्यायों में वर्णित कर्मयोग की सिद्धि के लिये ही अगला ज्ञान-विज्ञान कहा है---स्वतन्त्र रूप से नहीं बतलाया है।]

(३) हजारों मनुष्यों में कोई एक-आध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है, और प्रयत्न करनेवाले इन (अनेक) सिद्ध पुरुषों में से एक-आध को ही मेरा सच्चा ज्ञान हो जाता है।

[ध्यान रहे, कि यहाँ प्रयत्न करनेवालों को यद्यपि सिद्ध पुरुष कह दिया है, तथापि परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं।]

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पाँच सूक्ष्म भूत), मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारों

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

में मेरी प्रकृति विभाजित है । (५) यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणी की (प्रकृति) है । हे महाबाहु अर्जुन ! यह जानो कि इससे भिन्न, जगत् को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीवस्वरूपी मेरी दूसरी प्रकृति है। (६) समझ रखो, कि इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं । सारे जगत् का प्रभाव अर्थात् मूल और प्रलय अर्थात् अन्त मैं ही हूँ । (७) हे धनञ्जय ! मुझ से परे और कुछ नहीं है । धागे में पिरोये हुए मणियों के समान मुझ में यह सब गुंथा हुआ है ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

[इन चार श्लोकों में सब क्षर-अक्षर-ज्ञान का सार आ गया है; और अगले श्लोकों में इसी का विस्तार किया है।]

(८) हे कौन्तेय। जल में रस मैं हूँ, चन्द्र-सूर्य की प्रभा मैं हूँ, सब वेदों में प्रणव अर्थात् ओंकार मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, और सब पुरुषों का पौरुष मैं हूँ। (९) पृथ्वी में पुण्यगन्ध अर्थात् सुगन्धि एवं अग्नि का तेज मैं हूँ। सब प्राणियों की जीवनशक्ति और तपस्वियों का तप मैं हूँ। (१०) हे पार्थ! मुझ को सब प्राणियों का सनातन बीज समझ। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मैं हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

(११) काम (-वासना) और राग अर्थात् विषयासक्ति (इन दोनों को) घटा कर बलवान् लोगों का बल मैं हूँ; और हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणियों में, धर्म के विरुद्ध न जानेवाला, काम भी मैं हूँ, (१२) और यह समझ कि जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे सब मुझ से ही हुए हैं; परन्तु वे मुझ में हैं; मैं उनमें नहीं हूँ ।

(१३) (सत्त्व, रज और तम) इन तीन गुणा

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

त्मक भावों से अर्थात् पदार्थों से मोहित हो कर यह सारा संसार, इनसे परे के (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्यय (परमेश्वर) को नहीं जानता। (१४) मेरी यह गुणात्मक और दिव्य माया दुस्तर है। अतः इस माया को वे पार कर जाते हैं, जो मेरी ही शरण में आते हैं।

[इससे प्रगट होता है, कि सांख्यशास्त्र की त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही गीता में भगवान् अपनी माया कहते हैं।]

(१५) माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पड़ कर मेरी शरण में नहीं आते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

(१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं:—१—आर्त अर्थात् रोग से पीडित, २—जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा रखनेवाले, ३—अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओं को मन में रखनेवाले और ४—ज्ञानी अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान पा कर कृतार्थ हो जाने से आगे कुछ प्राप्त न करना हो, तो भी निष्कामबुद्धि से भक्ति करनेवाले। (१७) इनमें एकभक्ति अर्थात् अनन्यभाव से मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्काम बुद्धि से बर्तनेवाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय

उदाराः सर्व एवैत ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।
बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।१९।।
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।२०।।

हूँ और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है । (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं, परन्तु मेरा मत है, कि (इनमें) ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है; क्योंकि युक्तचित्त होकर (सब की) उत्तमोत्तम गति-स्वरूप मुझ में ही वह ठहरा रहता है। (१९) अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से कि 'जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही है,' ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।

(२०) अपनी-अपनी प्रकृति के नियमानुसार भिन्न

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

भिन्न (स्वर्ग आदि फलों की) काम-वासनाओं से पागल हुए लोग, भिन्न भिन्न (उपासनाओं के) नियमों को पाल कर दूसरे देवताओं को भजते रहते हैं। (२१) जो भक्त जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना किया चाहता है, उसकी उसी श्रद्धा को मैं स्थिर कर देता हूँ। (२२) फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने लगता है एवं उसको मेरे ही निर्माण किये हुए कामफल मिलते हैं। (२३) परन्तु (इन) अल्पबुद्धि लोगों को मिलने-

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५

वाले ये फल नाशवान् हैं (मोक्ष के समान स्थिर रहनेवाले नहीं हैं)। देवताओं को भजनेवाले उनके पास जाते हैं और मेरे भक्त मेरे यहाँ आते हैं।

(२४) अबुद्धि अर्थात् मूढ़ लोग, मेरे श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यय रूप को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं! (२५) मैं अपनी योगरूप माया से आच्छादित रहने के कारण सब को (अपने स्वरूप से) प्रगट नहीं देखता। मूढ़ लोग नहीं जानते, कि मैं अज और अव्यय हूँ।

[अव्यक्त स्वरूप को छोड़ कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को योग कहते हैं (देखो गी. ४. ६; ७. १५; ९. ७)। वेदान्ती लोग इसी को माया कहते हैं।]

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥
येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

(२६) हे अर्जुन! भूत, वर्तमान और भविष्यत् (जो हो चुके हैं उन्हें, मौजूद और आगे होनेवाले) सभी प्राणियों को मैं जानता हूँ; परन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता। (२७) क्योंकि हे भारत! (इन्द्रियों के) इच्छा और द्वेष से उपजनेवाले (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों के मोह से इस सृष्टि में समस्त प्राणी, हे परन्तप! भ्रम में फँस जाते हैं। (२८) परन्तु जिन पुण्यात्माओं के पाप का अन्त हो गया है, वे (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों के मोह से छूट कर दृढ़व्रत हो करके मेरी भक्ति करते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७ ॥

(२९) (इस प्रकार) जो मेरा आश्रय कर जरा-मरण अर्थात् पुनर्जन्म के चक्कर से छूटने के लिये प्रयत्न करते हैं, वे (सब) ब्रह्म, (सब) अध्यात्म और सब कर्म को जान लेते हैं। (३०) और अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ सहित (अर्थात् इस प्रकार, कि मैं ही सब हूँ) जो मुझे जानते हैं, वे युक्तचित्त (होने के कारण) मरण-काल में भी मुझे जानते हैं।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

आठवाँ अध्याय।

[इस अध्याय में कर्मयोग के अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान का ही निरूपण हो रहा है और पिछले अध्याय में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, ये जो परमेश्वर के स्वरूप के विविध भेद कहे हैं, पहले उनका अर्थ बतला कर विवेचन किया है कि उनमें क्या तथ्य है। परन्तु यह विवेचन इन शब्दों की केवल व्याख्या करके अर्थात् अत्यन्त संक्षिप्त रीति से किया गया है, अतः यहाँ पर उक्त विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना आवश्यक है। बाह्य सृष्टि के अवलोकन से, उसके कर्त्ता की कल्पना अनेक लोग अनेक रीतियों से किया करते हैं। १-कोई कहते हैं, कि सृष्टि के सब पदार्थ पञ्चमहाभूतों के ही विकार हैं और इन पञ्चमहाभूतों को छोड़ मूल में दूसरा कोई भी तत्त्व नहीं है। २-दूसरे कुछ लोग, जैसा कि गीता के चौथे अध्याय में वर्णन है, यह प्रतिपादन करते हैं, कि यह समस्त जगत् यज्ञ से हुआ है और परमेश्वर यज्ञनारायण-रूपी है, यज्ञ से ही उसकी पूजा होती है। ३-और कुछ लोगों का कहना है, कि स्वयं जड़ पदार्थ सृष्टि के व्यापार नहीं करते; किन्तु उनमें से प्रत्येक में कोई न कोई सचेतन पुरुष या देवता रहते हैं, जो कि इन

व्यवहारों को किया करते हैं और इसी लिये हमें उन देवताओं की आराधना करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, जड़ पांचभौतिक सूर्य के गोले में सूर्य नाम का जो पुरुष है वही प्रकाश देने वगैरह का काम किया करता है, अतएव वही उपास्य है। ४-चौथे पक्ष का कथन है, कि प्रत्येक पदार्थ में उस पदार्थ से भिन्न किसी देवता का निवास मानना ठीक नहीं है। जैसे मनुष्य के शरीर में आत्मा है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु में उसी वस्तु का कुछ न कुछ सूक्ष्मरूप अर्थात् आत्मा के समान सूक्ष्म शक्ति वास करती है, वही उसका मूल और सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, पंच स्थूल महाभूतों में पंच सूक्ष्म तन्मात्राएँ और हाथ-पैर आदि स्थूल इन्द्रियों में सूक्ष्म इन्द्रियाँ मूलभूत रहती हैं। इसी चौथे तत्त्व पर सांख्यों का यह मत भी अवलम्बित है, कि प्रत्येक मनुष्य का आत्मा भी पृथक्-पृथक् है और पुरुष असंख्य हैं; परन्तु जान पड़ता है, कि यहाँ इस सांख्यमत का 'अधिदेह' वर्ग में समावेश किया गया है। उक्त चार पक्षों को ही क्रम से अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म कहते हैं। किसी भी शब्द के पीछे 'अधि' उपसर्ग रहने से यह अर्थ होता है-'तमधिकृत्य,' 'तद्विषयक' 'उस सम्बन्ध का' या 'उसमें रहनेवाला'। इस अर्थ के अनुसार अधिदैवत अनेक देवताओं में रहनेवाला तत्त्व है। साधारणतया अध्यात्म

उस शास्त्र को कहते हैं जो यह प्रतिपादन करता है, कि सर्वत्र एक ही आत्मा है । किन्तु यह अर्थ सिद्धान्त पक्ष का है; अर्थात् पूर्वपक्ष के इस कथन की जाँच करके "अनेक वस्तुओं या मनुष्यों में भी अनेक आत्मा हैं," वेदान्तशास्त्र ने आत्मा की एकता के सिद्धान्त को ही निश्चित कर दिया है । अतः पूर्वपक्ष का जब विचार करना होता है तब माना जाता है, कि प्रत्येक पदार्थ का सूक्ष्म स्वरूप या आत्मा पृथक्-पृथक् है, और यहाँ पर अध्यात्म शब्द से यही अर्थ अभिप्रेत है । महाभारत में मनुष्य की इन्द्रियों का उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है, कि अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत-दृष्टि से एक ही विवेचन के इस प्रकार भिन्न-भिन्न भेद क्योंकर होते हैं (देखो मभा. शां. ३१३; और अश्व. ४१)। महाभारतकार कहते हैं, कि मनुष्य की इन्द्रियों का विवेचन तीन तरह से किया जा सकता है, जैसे अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत । इन इन्द्रियों के द्वारा जो विषय ग्रहण किये जाते हैं—उदाहरणार्थ, हाथों से जो लिया जाता है, कानों से जो सुना जाता है, आँखों से जो देखा जाता है, और मन से जिसका चिन्तन किया जाता है—वे सब अधिभूत हैं और हाथ पैर आदि के (सांख्यशास्त्रोक्त) सूक्ष्म स्वभाव, अर्थात् सूक्ष्म इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियों के अध्यात्म हैं । परन्तु इन दोनों दृष्टियों को छोड़

कर अधिदैवत दृष्टि से विचार करने पर--अर्थात् यह मान करके, कि हाथों के देवता इन्द्र, पैरों के विष्णु, गुद के मित्र, उपस्थ के प्रजापति, वाणी के अग्नि, आँखों के सूर्य, कानों के आकाश अथवा दिशा, जीभ के जल, नाक के पृथ्वी, त्वचा के वायु, मन के चन्द्रमा, अहङ्कार के बुद्धि और बुद्धि के देवता पुरुष हैं--कहा जाता है, कि यही देवता लोग अपनी-अपनी इन्द्रियों के व्यापार किया करते हैं। उपनिषदों में भी उपासना के लिये ब्रह्मस्वरूप के जो प्रतीक वर्णित हैं,उनमें मन को अध्यात्म और सूर्य अथवा आकाश को अधिदैवत प्रतीक कहा है (छां. ३.१८.१)। अध्यात्म और अधिदैवत का यह भेद केवल उपासना के लिये ही नहीं किया गया है,बल्कि अब इस प्रश्न का निर्णय करना पड़ा कि वाणी, चक्षु और श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियों एवं प्राणों में श्रेष्ठ कौन है, तब उपनिषदों में भी (बृ. १. ५. २१-२३; छां. १. २-३; कौषी. ४. १२, १३) एक बार वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन सूक्ष्म इन्द्रियों को ले कर अध्यात्मदृष्टि से विचार किया गया है, तथा दूसरी बार उन्हीं इन्द्रियों के देवता, अग्नि, सूर्य और आकाश को ले कर अधिदैवत दृष्टि से विचार किया गया है। सारांश यह है, कि अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म आदि भेद प्राचीन काल से चले आ रहे हैं और यह प्रश्न भी इसी

जमाने का है, कि परमेश्वर के स्वरूप की इन भिन्नभिन्न कल्पनाओं में से सच्ची कौन है तथा उसका तथ्य क्या है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ७) में याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से कहा है, कि सब प्राणियों में, सब देवताओं में, समग्र अध्यात्म में, सब लोकों में, सब यज्ञों में और सब देहों में व्याप्त होकर उनके न समझने पर भी, उनको नचानेवाला एक ही परमात्मा है। उपनिषदों का यही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र के अन्तर्यामी अधिकरण में है (वेसू. १. २.१८–२०)। वहाँ भी सिद्ध किया है, कि सब के अंतःकरण में रहनेवाला यह तत्त्व सांख्यों की प्रकृति या जीवात्मा नहीं है, किन्तु परमात्मा है। इसी सिद्धान्त के अनुरोध से भगवान् अब अर्जुन से कहते हैं कि मनुष्य की देह में, सब प्राणियों में (अधिभूत), सब यज्ञों में (अधियज्ञ), सब देवताओं में (अधिदैवत), सब कर्मों में और सब वस्तुओं के सूक्ष्म स्वरूप (अर्थात् अध्यात्म) में एक ही परमेश्वर समाया हुआ है--यज्ञ इत्यादि नानात्व अथवा विविध ज्ञान सच्चा नहीं है। सातवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अधिभूत आदि जिन शब्दों का उच्चारण किया है, उनका अर्थ जानने की अर्जुन को इच्छा हुई; अतः वह पहले पूछता है—]

अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा—(१) हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म के मानी क्या है ? अधिभूत किसे कहना चाहिये और अधिदैवत किसको कहते हैं ? (२) अधियज्ञ कैसा होता है ? हे मधुसूदन ! इस देह में (अधिदेह) कौन है ? और अन्तकाल में इंद्रियनिग्रह करनेवाले लोग तुमको कैसे पहचानते हैं ? श्रीभगवान् ने कहा—(३) (सब से) परम अक्षर

अधिभूतं क्षरो भाव पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अर्थात् कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्त्व ब्रह्म है, (और) प्रत्येक वस्तु का मूलभाव (स्वभाव) अध्यात्म कहा जाता है, (अक्षरब्रह्म से) भूतमात्रादि (चर-अचर) पदार्थों की उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग अर्थात् सृष्टि-व्यापार कर्म है। (४) (उपजे हुए सब प्राणियों की) क्षर अर्थात् नामरूपात्मक नाशवान् स्थिति अधिभूत है; और (इस पदार्थ में) जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्ठाता है, वही अधिदैवत है; (जिसे) अधियज्ञ (सब यज्ञों का अधिपति कहते हैं, वह) मैं ही हूँ । हे देहधारियों में श्रेष्ठ ! मैं इस देह में (अधिदेह) हूँ ।

[तीसरे श्लोक का 'परम' शब्द ब्रह्म का विशेषण नहीं है किन्तु अक्षर का विशेषण है । हमने ' स्वभाव ' शब्द का अर्थ महाभारत में दिये हुए उदाहरणों के अनुसार किसी भी पदार्थ का ' सूक्ष्मस्वरूप ' किया है । नासदीय सूक्त में दृश्य जगत् को

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

परब्रह्म की विसृष्टि (विसर्ग) कहा है और विसर्ग शब्द का वही अर्थ यहाँ लेना चाहिये। गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विस्तृत विवेचन किया गया है, कि इस दृश्य सृष्टि को ही कर्म क्यों कहते हैं। पदार्थ मात्र के नाम-रूपात्मक विनाशी स्वरूप को 'क्षर' कहते हैं और इससे परे जो अक्षर तत्त्व है उसी को ब्रह्म समझना चाहिये। 'पुरुष' शब्द से सूर्य का पुरुष, जल का देवता या वरुणपुरुष इत्यादि सचेतन सूक्ष्म देहधारी देवता विवक्षित हैं और हिरण्यगर्भ का भी उसमें समावेश होता है। इस प्रकार अध्यात्म आदि के लक्षण बतला कर अन्त में संक्षेप से कह दिया है, कि इस देह में 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ अर्थात् मनुष्य-देह में अधिदेह और अधियज्ञ भी मैं हूँ। तो भी इस वाक्य के "मैं ही हूँ" शब्द केवल अधियज्ञ अथवा अधिदेह को ही उद्देश करके प्रयुक्त नहीं हैं, उनका सम्बन्ध अध्यात्म आदि पूर्वपदों से भी है।]

(५) और अन्तकाल में जो मेरा स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूप में निःसन्देह मिल

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

जाता है। (६) अथवा हे कौन्तेय! सदा जन्मभर उसी में रँगे रहने से मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर त्यागता है वह उसी भाव में जा मिलता है।

[पाँचवें श्लोक में मरण-समय में परमेश्वर के स्मरण करने की आवश्यकता और फल बतलाया है। सम्भव है, इसमें कोई यह समझ ले, कि केवल मरणकाल में यह स्मरण करने से ही काम चल जाता है। इसी हेतु से छठे श्लोक में यह बतलाया है, कि जो बात जन्मभर मन में रहती है वह मरणकाल में भी नहीं छूटती, अतएव न केवल मरणकाल में प्रत्युत जन्मभर परमेश्वर का स्मरण और उपासना करने की आवश्यकता है।]

(७) इसलिये सर्वकाल–सदैव ही–मेरा स्मरण करता रह और युद्ध कर। मुझ में मन और बुद्धि अर्पण

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥८॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।

करने से (युद्ध करनेपर भी) मुझमें ही निःसन्देह आ मिलेगा। (८) हे पार्थ ! चित्त को दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यास की सहायता से उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुष का ध्यान करते रहने से मनुष्य उसी पुरुष में जा मिलता है।

[जो लोग भगवद्गीता में इस विषय का प्रतिपादन बतलाते हैं, कि संसार को छोड़ दो, और केवल भक्ति का ही अवलम्ब करो, उन्हें सातवें श्लोक के सिद्धान्त की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। भगवद्भक्त को स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ उन सब को निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये, और उसी सिद्धान्त को इन शब्दों से व्यक्त किया है कि "मेरा सदैव चिन्तन कर और युद्ध कर.।"]



सर्वस्य धातारमचिंत्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

(९–१०) जो (मनुष्य) अन्तकाल में (इन्द्रिय-निग्रहरूप) योग के सामर्थ्य से, भक्तियुक्त हो कर मन को स्थिर करके दोनों भोंहों के बीच में प्राण को भली भाँति रख कर, कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणु से भी छोटे, सब के धाता अर्थात् आधार या कर्त्ता, अचिन्त्यस्वरूप और अन्धकार से परे, सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष का स्मरण करता है, वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुष में जा मिलता है ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

(११)वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं,वीतराग हो कर यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हैं, वह पद अर्थात् ॐकारब्रह्म तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ । (१२) सब (इन्द्रियरूपी) द्वारों का संयम कर और मन का हृदय में निरोध करके (एवं) मस्तक में प्राण ले जा कर समाधियोग में स्थित होनेवाला, (१३) इस एकाक्षर ब्रह्म ॐ कार जप और मेरा स्मरण करता हुआ जो(मनुष्य)

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि होने पर उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। (१९) हे पार्थ! भूतों का यही समुदाय (इस प्रकार) बार बार उत्पन्न होकर अवश होता हुआ, अर्थात् इच्छा हो या न हो, रात होते ही लीन हो जाता है और दिन होने पर (फिर) जन्म लेता है।

(२०) किन्तु इस ऊपर बतलाये हुए अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है, कि जो सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता, (२१) जिस अव्यक्त को 'अक्षर' (भी) कहते हैं, जो परम अर्थात्

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

उत्कृष्ट या अन्त की गति कहा जाता है (और) जिसे पाकर फिर (जन्म में) लौटते नहीं हैं, (वही) मेरा परम स्थान है; (२२) हे पार्थ! जिसके भीतर (सब) भूत हैं और जिसने इस सब को फैलाया अथवा व्याप्त कर रखा है, वह पर अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है।

[बीसवाँ और इक्कीसवाँ श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है। २० वें श्लोक का 'अव्यक्त' शब्द पहले सांख्यों की प्रकृति को अर्थात् १८ वें श्लोक के अव्यक्त द्रव्य को लक्ष्य करके प्रयुक्त है और आगे वही शब्द सांख्यों की प्रकृति से परे, परब्रह्म के लिये भी उपयुक्त हुआ है; तथा २१ वें श्लोक में कहा है, कि इसी दूसरे अव्यक्त को 'अक्षर' भी कहते हैं। अध्याय के आरम्भ में भी "अक्षरं ब्रह्म परमं" यह वर्णन है। सारांश, 'अव्यक्त' शब्द के समान ही गीता में 'अक्षर' शब्द का भी दो प्रकार से उपयोग किया गया है।]

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चांद्रमसं जोतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

(२३) हे भरतश्रेष्ठ! अब तुझे मैं वह काल बतलाता हूँ, कि जिस काल में (कर्म-) योगी मरने पर (इस लोक में जन्मने के लिये) लौट नहीं आते, और (जिस काल में मरने पर) लौट आते हैं। (२४) अग्नि, ज्योति अर्थात् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को पाते हैं (लौट कर नहीं आते)। (२५) (अग्नि) धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष (और) दक्षिणायन के छः महीनों में मरा हुआ (कर्म-) योगी चन्द्र के तेज में अर्थात् लोक

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥
नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

में जा कर (पुण्यांश घटने पर) लौट आता है ।

(२६) इस प्रकार जगत् की शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय और अन्धकारमय दो शाश्वत गतियाँ यानी स्थिर मार्ग हैं । एक मार्ग से जाने पर लौटना नहीं पड़ता और दूसरे से फिर लौटना पड़ता है ।

[मरे हुए मनुष्य की देह को अग्नि में जला देने पर, अग्नि से ही इन मार्गों का आरम्भ हो जाता है, अतएव पच्चीसवें श्लोक में 'अग्नि' पद का पहले श्लोक से अध्याहार कर लेना चाहिये ।]

(२७) हे पार्थ ! इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों को (तत्त्वतः) जाननेवाला कोई भी (कर्म-)योगी मोह में नहीं फँसता; अतएव हे अर्जुन ! तू सदा सर्वदा

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(कर्म-) योगयुक्त हो । (२८) इसे (उक्त तत्त्व को) जान लेने से वेद, यज्ञ, तप और दान में जो पुण्य-फल बतलाया है, (कर्म-)योगी उस सब को छोड़ जाता है और उसके परे आद्यस्थान को पा लेता है ।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में अक्षर-ब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

नवाँ अध्याय।

[सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का निरुपण यह दिखलाने के लिये किया गया है, कि कर्मयोग का आचरण करनेवाले पुरुष को परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हो कर मन की शान्ति अथवा मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होती है। अक्षर और अव्यक्त पुरुष का स्वरूप भी बतला दिया गया है। पिछले अध्याय में कहा गया है, कि अन्तकाल में भी उसी स्वरूप को मन में स्थिर बनाये रखने के लिये पातंजल योग से समाधि लगा कर, अन्त में ॐकार की उपासना की जावे। परंतु पहले तो अक्षरब्रह्म का ज्ञान होना ही कठिन है, और फिर उसमें भी समाधि की आवश्यकता होने से साधारण लोगों को यह मार्ग ही छोड़ देना पड़ेगा! इस कठिनाई पर ध्यान देकर अब भगवान् ऐसा राजमार्ग बतलाते हैं, कि जिससे सब लोगों को परमेश्वर का ज्ञान सुलभ हो जावे। इसी को भक्तिमार्ग कहते हैं। गीतारहस्य के तरहवें प्रकरण में हमने उसका विस्तारसहित विवेचन किया है। इस मार्ग में परमेश्वर का स्वरूप प्रेमगम्य और व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष जानने योग्य रहता है; उसी व्यक्त स्वरूप का विस्तृत निरूपण नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में किया गया है। तथापि, स्मरण रहे, कि यह भक्तिमार्ग भी स्वतन्त्र नहीं है—कर्मयोग

नवमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

की सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में जिस ज्ञान-विज्ञान का आरम्भ किया गया है, उसी का यह भाग है । और इस अध्याय का आरम्भ भी पीछले ज्ञानविज्ञान के अङ्ग की दृष्टि से ही किया गया है ।]

श्रीभगवान् ने कहा--(१) अब तू दोषदर्शी नहीं है, इसलिये गुह्य से भी गुह्य विज्ञान सहित ज्ञान तुझे बतलाता हूँ, कि जिसके जान लेने से पाप से मुक्त होगा । (२) यह (ज्ञान) समस्त गुह्यों में राजा अर्थात् श्रेष्ठ है; यह राजविद्या अर्थात् सब विद्याओं में श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम और प्रत्यक्ष बोध देनेवाला है; यह आच-

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

रण करने में सुखकारक, अव्यय और धर्म्य है। (३) हे परन्तप! इस पर श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे नहीं पाते; वे मृत्युयुक्त संसार के मार्ग में लौट आते हैं; (अर्थात् उन्हें मोक्ष नहीं मिलता)।

[गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४११-४१६) में दूसरे श्लोक के 'राजविद्या,' 'राजगुह्य,' और 'प्रत्यक्षावगम' पदों के अर्थों का विचार किया है। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों को उपनिषदों में 'विद्या' कहा है, और यह विद्या गुप्त रखी जाती थी। अक्षर या अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को लक्ष्य करके यह वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु राजविद्या शब्द से यहाँ पर भक्तिमार्ग ही विवक्षित है।]

(४) मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस समग्र जगत् को फैलाया अथवा व्याप्त किया है। मुझमें सब भूत हैं;

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

(परन्तु) मैं उनमें नहीं हूँ। (५) और मुझमें सब भूत भी नहीं हैं! देखो, (यह कैसी) मेरी ईश्वरी करनी या योगसामर्थ्य है! भूतों को उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा, उनका पालन करके भी (फिर) उनमें नहीं है! (६) सर्वत्र बहनेवाली महान् वायु जिस प्रकार सर्वदा आकाश में रहती है, उसी प्रकार सब भूतों को मुझमें समझ।

[यह विरोधाभास इसलिये होता है, कि परमेश्वर निर्गुण भी है और सगुण भी है।]

(७) हे कौन्तेय! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं और कल्प के आरम्भ में (ब्रह्मा

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

के दिन के आरम्भ में) उनको मैं ही फिर निर्माण करता हूँ। (८) मैं अपनी प्रकृति को हाथ में ले कर, (अपने अपने कर्मों से बँधे हुए) भूतों के इस समूचे समुदाय को पुनः पुनः निर्माण करता हूँ, कि जो (उस) प्रकृति के क़ाबू में रहने से अवश अर्थात् परतन्त्र है। (९) (परन्तु) हे धनञ्जय ! इस (सृष्टि-निर्माण करने के) काम में मेरी आसक्ति नहीं है, मैं उदासीन सा रहता हूँ, इस कारण मुझे वे कर्म बन्धक नहीं होते। (१०) मैं अध्यक्ष हो कर प्रकृति से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न कर-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

वाता हूँ । हे कौन्तेय ! इस कारण जगत् का यह बनना-बिगड़ना हुआ करता है ।

(११) मूढ़ लोग मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते, कि जो सब भूतों का महान् ईश्वर है; वे मुझे मानव-तनुधारी समझ कर मेरी अवहेलना करते हैं । (१२) उनकी आशा व्यर्थ, कर्म फ़िज़ूल, ज्ञान निरर्थक और चित्त भ्रष्ट है, वे मोहात्मक राक्षसी और आसुरी स्वभाव का आश्रय किये रहते हैं ।

(१३) परन्तु हे पार्थ ! दैवी प्रकृति का आश्रय करनेवाले महात्मा लोग सब भूतों के अव्यय आदिस्थान मुझको पहचान

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥१५॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६ ॥

कर अनन्य भाव सेमेरा भजन करते हैं; (१४). यत्नशील, दृढ़व्रत एवं नित्य योगयुक्त हो सदा मेरी कीर्तन और वन्दना करते हुए भक्ति से मेरी उपासना किया करते हैं। (१५) ऐसे ही और कुछ लोग एकत्व से अर्थात् अभेदभाव से, पृथक्त्व से अर्थात् भेदभाव से, या अनेक भाँति के ज्ञान-यज्ञ से यजन कर मेरी—जो सर्वतोमुख हूँ—उपासना किया करते हैं।

(१६) क्रतु अर्थात् श्रौत यज्ञ मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्त यज्ञ मैं हूँ, स्वधा अर्थात् श्राद्ध में पितरों को

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

अर्पण किया हुआ अन्न मैं हूँ, औषध अर्थात् वनस्पति से (यज्ञ के अर्थ) उत्पन्न हुआ अन्न मैं हूँ, (यज्ञ में हवन करते समय पढ़े जानेवाले) मन्त्र मैं हूँ, घृत, अग्नि और (अग्नि में छोड़ी हुई) आहुति मैं ही हूँ।

[इस स्थल पर 'क्रतु' शब्द से 'श्रौत' यज्ञ और 'यज्ञ' शब्द से 'स्मार्त' यज्ञ समझना चाहिये; और ऊपर हमने यही अर्थ किया है।]

(१७) इस जगत् का पिता, माता, धाता (आधार), पितामह (बाबा) मैं हूँ, जो कुछ पवित्र या जो कुछ ज्ञेय है वह और ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद, तथा यजुर्वेद भी मैं हूँ, (१८) (सब की) गति, (सब का) पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति,

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीज भी मैं हूँ। (१९) हे अर्जुन। मैं उष्णता देता हूँ, मैं पानी को रोकता और बरसाता हूँ; अमृत और मृत्यु, सत् और असत् भी मैं हूँ।

[परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन फिर विस्तार सहित १०, ११ और १२ अध्यायों में है। तथापि यहाँ केवल विभूति न बतला कर यह विशेषता दिखलाई है, कि परमेश्वर का और जगत् के भूतों का सम्बन्ध मा-बाप और मित्र इत्यादि के समान है; इन दो स्थानों के वर्णनों में यही भेद है।]

(२०) जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों के कर्म करनेवाले, सोम पीनेवाले अर्थात्

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

सोमयाजी तथा निष्पाप (पुरुष) यज्ञ से मेरी पूजा करके स्वर्गलोक प्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे इन्द्र के पुण्यलोक में पहुँच कर स्वर्ग में देवताओं के अनेक दिव्य भोग भोगते हैं । (२१) और उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग करके, पुण्य का क्षय हो जाने पर वे (फिर जन्म लेकर) मृत्युलोक में आते हैं । इस प्रकार त्रयीधर्म अर्थात् तीनों वेदों के यज्ञ-याग आदि श्रौत धर्म के पालनेवाले और काम्य उपभोग की इच्छा करनेवाले लोगों को (स्वर्ग का) आवागमन प्राप्त होता है । (२२) जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा चिन्तन कर मुझे

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौंतेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

भजते हैं, उन नित्य योगयुक्त पुरुषों का योग-क्षेम मैं किया करता हूँ।

[जो वस्तु मिली नहीं है, उसको जुटाने का नाम है योग, और मिली हुई वस्तु की रक्षा करना है क्षेम। शाश्वतकोश में भी (देखो १०० और २९२ श्लोक) योग-क्षेम की ऐसी ही व्याख्या है, और उसका पूरा अर्थ 'सांसारिक नित्य-निर्वाह' है।]

(२३) हे कौन्तेय ! श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओं के भक्त बन करके जो लोग यजन करते हैं वे भी विधिपूर्वक न हो, तो भी (पर्याय से) मेरा ही यजन करते हैं; (२४) क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ। किन्तु वे तत्त्वतः मुझे नहीं जानते, इसलिये वे लोग गिर जाया करते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

(२५) देवताओं का व्रत करनेवाले देवताओं के पास, पितरों का व्रत करनेवाले पितरों के पास, (भिन्न भिन्न) भूतों को पूजनेवाले (उन) भूतों के पास जाते हैं; और मेरा यजन करनेवाले मेरे पास आते हैं ।

[अनेक देवताओं की उपासना करनेवाले को (नानात्व से), जो फल मिलता है उसे पहले चरण में बतला कर दूसरे चरण में यह अर्थ वर्णन किया है, कि अनन्य भाव से भगवान् की भक्ति करनेवालों को ही सच्ची भगवत्प्राप्ति होती है ।]

(२६) जो मुझे भक्ति से एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा (यथाशक्ति) थोड़ा सा जल भी अर्पण करता है, उस प्रयतात्म अर्थात् नियतचित्त पुरुष की भक्ति की भेंट को मैं (आनन्द से) ग्रहण करता हूँ ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि य ् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

[कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गी. २. ४९)–यह कर्मयोग का तत्त्व है; उसका जो रूपान्तर भक्तिमार्ग में हो जाता है, उसी का वर्णन उक्त श्लोक में है ।]

(२७) हे कौन्तेय ! तू जो (कुछ) करता है, जो खाता है, होम-हवन करता है, जो दान करता है (और) जो तप करता है, वह (सब) मुझे अर्पण किया कर । (२८) इस प्रकार बर्तने से (कर्म करके भी) कर्मों के शुभ-अशुभ फलरूप बन्धनों से तू मुक्त रहेगा, और (कर्मफलों के) संन्यास करने के इस योग से युक्तात्मा अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण हो कर मुक्त हो जायगा एवं मुझमें मिल जायगा ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

[इससे प्रगट होता है, कि भगवद्भक्त भी कृष्णार्पणबुद्धि से समस्त कर्म करें, उन्हें छोड़ न दे । इस दृष्टि से ये दोनों श्लोक महत्त्व के हैं ।]

(२९) मैं सब को एक सा हूँ । न मुझे (कोई) द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है और न (कोई) प्यारा । भक्ति से जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ । (३०) बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिये । क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है । (३१) वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

है और नित्य शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू खूब समझे रह, कि मेरा भक्त (कभी भी) नष्ट नहीं होता।

[तीसवें श्लोक का भावार्थ ऐसा न समझना चाहिये, कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हों, तो भी वे भगवत् को प्यारे ही रहते हैं। भगवान् इतना ही कहते हैं, कि पहले कोई मनुष्य दुराचारी भी रहा हो, परन्तु जब एक बार उसकी बुद्धि का निश्चय परमेश्वर का भजन करने में हो जाता है, तब उसके हाथ से फिर कोई भी दुष्कर्म नहीं हो सकता; और वह धीरे धीरे धर्मात्मा हो कर सिद्धि पाता है तथा इसी सिद्धि से उसके पाप का बिलकुल नाश हो जाता है।]

(३२) क्योंकि हे पार्थ! मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा अन्त्यज आदि जो पापयोनि हों वे भी परम गति पाते हैं। (३३) फिर पुण्यवान् ब्राह्मणों

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

की, मेरे भक्तों की और राजर्षियों, क्षत्रियों की बात क्या कहनी है? तू इस अनित्य और असुख अर्थात् दुःखकारक मृत्यु-लोक में है, इस कारण मेरा भजन कर।

[पापयोनि शब्द से वह जाति विवक्षित है, जिसे कि आजकल राज-दरबार में "ज़रायम-पैशा कौम" कहते हैं; इस श्लोक का सिद्धान्त यह है, कि इस जाति के लोगों को भी भगवद्भक्ति से सिद्धि मिलती है।]

(३४) मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार मत्परायण हो कर, योग का अभ्यास करने से मुझे ही पावेगा।

[वास्तव में इस उपदेश का आरम्भ ३३ वें श्लोक में ही हो गया है। ३३ वें श्लोक में 'अनित्य' पद अध्यात्मशास्त्र के इस

सिद्धान्त के अनुसार आया है, कि प्रकृति का फैलाव अथवा नाम-रूपात्मक दृश्य-सृष्टि अनित्य है और एक परमात्मा ही नित्य है; और ' असुख ' पद में इस सिद्धान्त का अनुवाद है, कि इस संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है। तथापि यह वर्णन अध्यात्म का नहीं है, भक्तिमार्ग का है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

दशमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

दसवाँ अध्याय।

[पिछले अध्याय में कर्मयोग की सिद्धि के लिये, परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की उपासना का जो राजमार्ग बतलाया गया है, उसी का इस अध्याय में वर्णन हो रहा है; और अर्जुन के पूछने पर परमेश्वर के अनेक व्यक्त रूपों अथवा विभूतियों का वर्णन किया गया है। इस वर्णन को सुन कर अर्जुन के मन में भगवान् के प्रत्यक्ष स्वरूप को देखने की इच्छा हुई; अतः ११ वें अध्याय में भगवान् ने उसे विश्वरूप दिखला कर कृतार्थ किया है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) हे महाबाहु! (मेरे भाषण से) सन्तुष्ट होनेवाले तुझसे, तेरे हितार्थ मैं फिर (एक) अच्छी बात कहता हूँ, उसे सुन।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

(२) देवताओं के गण और महर्षि भी मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते; क्योंकि देवताओं और महर्षि का सब प्रकार से मैं ही आदिकारण हूँ। (३) जो जानता है कि, मैं (पृथिवी आदि सब) लोकों का बड़ा ईश्वर हूँ, और मेरा जन्म तथा आदि नहीं है; मनुष्यों में वही मोह-विरहित हो कर सब पापों से मुक्त होता है।

(४) बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, भव (उत्पत्ति), अभाव (नाश), भय, अभय,

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

(५) अहिंसा, समता, तुष्टि (सन्तोष), तप, दान, यश और अयश आदि अनेक प्रकार के प्राणिमात्र के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ।

['भाव' शब्द का अर्थ है 'अवस्था,' 'स्थिति' या 'वृत्ति' और सांख्यशास्त्र में 'बुद्धि के भाव' एवं 'शारीरिक भाव' ऐसा भेद किया गया है । सांख्यशास्त्री पुरुष को अकर्त्ता और बुद्धि को प्रकृति का एक विकार मानते हैं, इसलिये वे कहते हैं, कि लिङ्गशरीर को पशु-पक्षी आदि के भिन्न-भिन्न जन्म मिलने का कारण लिङ्गशरीर में रहनेवाली बुद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ अथवा भाव ही हैं; और ऊपर के दो श्लोकों में इन्हीं भावों का वर्णन है । तप, दान और यश आदि शब्दों से तन्निष्ठक बुद्धि के भाव ही उद्दिष्ट हैं ।]

(६) सात महर्षि, उनके पहले के चार, और मनु

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मेरे ही मानस, अर्थात् मन से निर्माण किये हुए, भाव हैं कि जिनसे (इस) लोक में यह प्रजा हुई है ।

[भारतान्तर्गत नारायणीयाख्यान के अनुसार हमने इस श्लोक का अर्थ यों लगाया है:—'सात महर्षि' अर्थात् मरीचि आदि, 'पहले के चार' अर्थात् वासुदेव आदि चतुर्व्यूह. और 'मनु' अर्थात् जो उस समय से पहले हो चुके थे और वर्तमान, सब मिला कर स्वायम्भुव आदि सात मनु ।]

(७) जो मेरी इस विभूति अर्थात् विस्तार, और योग अर्थात् विस्तार करने की शक्ति या सामर्थ्य के तत्त्व को जानता है, उसे निस्सन्देह स्थिर (कर्म-) योग प्राप्त होता है । (८) यह जान कर, कि मैं सब का उत्पत्तिस्थान हूँ और मुझसे सब वस्तुओं की प्रवृत्ति

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १०॥
तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

होती है, ज्ञानी पुरुष भावयुक्त होते हुए मुझको भजते हैं। (९) वे मुझमें मन जमा कर और प्राणों को लगा कर परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथा कहते हुए (उसी में) सदा संतुष्ट और रममाण रहते हैं। (१०) इस प्रकार सदैव युक्त होकर अर्थात् समाधान से रह कर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं, उनको मैं ही ऐसी (समत्व-) बुद्धि का योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझे पा लेवें। (११) और उन पर अनुग्रह करने के लिये ही मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरण में पैठ

अर्जुन उवाच।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

कर तेजस्वी ज्ञान-दीप से; (उनके) अज्ञानमूलक अन्धकार का नाश करता हूँ।

[पहले (गी. ६. ४४) जो यह वर्णन है, कि जब मनुष्य के मन में एक बार कर्मयोग की जिज्ञासा जागृत हो जाती है, तब वह आप ही आप पूर्ण सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है, उसके साथ भक्तिमार्ग का यह सिद्धान्त समानार्थक है।]

अर्जुन ने कहा—(१२–१३) तुम ही परम ब्रह्म, श्रेष्ठ स्थान और पवित्र वस्तु (हो); सब ऋषि, ऐसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास भी तुमको दिव्य एवं शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अजन्मा, सर्वविभु अर्थात् सर्वव्यापी कहते हैं, और स्वयं तुम भी मुझसे वही कहते

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

हो। (१४) हे केशव! तुम मुझसे जो कहते हो, उस सब को मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवान्! तुम्हारी व्यक्ति अर्थात् तुम्हारा मूल देवताओं को विदित नहीं और दानवों को विदित नहीं। (१५) सब भूतों के उत्पन्न करने-वाले हे भूतेश! देवदेव जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयं ही अपने आप को जानते हो। (१६) अतः तुम्हारी जो दिव्य विभूतियाँ हैं, जिन विभूतियों से इन सब लोकों को तुम व्याप्त कर रहे हो, उन्हें आप ही

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

(कृपा कर) पूर्णता से बतलावें। (१७) हे योगिन् ! (मुझे यह बतलाइये कि) सदा तुम्हारा चिन्तन करता हुआ मैं तुम्हें कैसे पहचानूँ ? और हे भगवान्! मैं किन-किन पदार्थों में तुम्हारा चिन्तन करूँ ? (१८) हे जनार्दन ! अपनी विभूति और योग मुझे फिर विस्तार से बतलाओ; क्योंकि अमृततुल्य (तुम्हारे भाषण को) सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती।

[विभूति और योग, दोनों शब्द इसी अध्याय के सातवें श्लोक में आये हैं और यहाँ अर्जुन ने उन्हीं को दुहरा दिया है । 'योग' शब्द का अर्थ पहले (गी. ७. २५) दिया जा चुका है, उसे देखो ।]

पुस्तकालय गुरुकुल काँगड़ी

श्रीभगवानुवाच।

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—(१९) अच्छा; तो अब हे कुरुश्रेष्ठ! अपनी दिव्य विभूतियों में से तुम्हें मुख्य मुख्य बतलाता हूँ, क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है। (२०) हे गुडाकेश! सब भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ, और सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। (२१) (बारह) आदित्यों में विष्णु मैं हूँ; तेजस्वियों में किरणमाली सूर्य, (सात अथवा

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३॥

उनञ्चास) मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ। (२२) मैं वेदों में सामवेद हूँ; देवताओं में इन्द्र हूँ; और इन्द्रियों में मन हूँ; भूतों में चेतना अर्थात् प्राण की चलन-शक्ति मैं हूँ ।

[भक्ति-प्रधान धर्म में, यज्ञ-याग आदि क्रियात्मक वेदों की अपेक्षा, गान-प्रधान वेद अर्थात् सामवेद को अधिक महत्त्व दिया गया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं; और "मैं वेदों में सामवेद हूँ" इस कथन का हमारे मत में सीधा और सहज कारण यही है ।]

(२३) (ग्यारह) रुद्रों में शङ्कर मैं हूँ; यक्ष और राक्षसों में कुबेर हूँ; (आठ) वसुओं में पावक हूँ;

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

(और सात) पर्वतों में मेरु हूँ । (२४) हे पार्थ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझको समझ । मैं सेनानायकों में स्कन्द (कार्त्तिकेय) और जलाशयों में समुद्र हूँ । (२५) महर्षियों में मैं भृगु हूँ; वाणी में एकाक्षर अर्थात् ओंकार हूँ । यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ; स्थावर अर्थात् स्थिर पदार्थों में हिमालय हूँ ।

["यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ" यह वाक्य महत्त्व का है । भक्तिमार्ग में हविर्यज्ञ की अपेक्षा नाम-यज्ञ या जप-यज्ञ का विशेष महत्त्व है, इसी से गीता में " यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि " कहा है ।]

(२६) मैं सब वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल और

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनुनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥२८॥
अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

देवर्षियों में नारद हूँ, गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। (२७) घोड़ों में (अमृतमन्थन के समय निकला हुआ) उच्चैःश्रवा मुझे समझो। मैं गजेन्द्रों में ऐरावत, और मनुष्यों में राजा हूँ। (२८) मैं आयुधों में वज्र, गौओं में कामधेनु, और प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम मैं हूँ; सर्पों में वासुकि हूँ। (२९) नागों में अनन्त मैं हूँ; यादस् अर्थात् जलचर प्राणियों में वरुण, और पितरों में अर्यमा मैं हूँ; मैं नियमन करनेवाले में यम हूँ!

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

[वासुकि = सर्पों का राजा और अनन्त = 'शेष' ये अर्थ निश्चित हैं और अमरकोश तथा महाभारत में भी यही अर्थ दिये गये हैं (देखो मभा. आदि ३५-३९)। परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता, कि नाग और सर्प में क्या भेद है।]

(३०.) मैं दैत्यों में प्रल्हाद हूँ; मैं ग्रसनेवालों में काल, पशुओं में मृगेन्द्र अर्थात् सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ। (३१) मैं वेगवानों में वायु हूँ; मैं शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर और नदियों में भागीरथी हूँ। (३२) हे अर्जुन ! सृष्टिमात्र का आदि, अन्त और मध्य भी मैं हूँ, विद्याओं में अध्यात्मविद्या और

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३ ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

वाद करनेवालों का वाद मैं हूँ। (३३) मैं अक्षरों में अकार और समासों में (उभयपद-प्रधान) द्वन्द्व हूँ; (निमेष, मुहूर्त आदि) अक्षय काल और सर्वतोमुख अर्थात् चारों ओर से मुखोंवाला धाता यानी ब्रह्मा मैं हूँ; (३४) सबका क्षय करनेवाली मृत्यु और आगे जन्म लेनेवालों का उत्पत्तिस्थान मैं हूँ, स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा मैं हूँ।

[कीर्ति, श्री, वाणी इत्यादि शब्दों से वही देवता विवक्षित हैं।]

(३५) साम अर्थात् गाने के योग्य वैदिक स्तोत्रों

द्यूतं छलयातमस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥
दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

मैं बृहत्साम, (और) शब्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ; मैं महिनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त हूँ ।

[महिनों में मार्गशीर्ष को प्रथम स्थान इसलिये दिया गया है, कि उन दिनों में बारह महिनों को मार्गशीर्ष से ही गिनने की रीति थी. ।]

(३६) मैं छलियों में द्यूत हूँ, तेजस्वियों का तेज, (विजयशाली पुरुषों का) विजय, (निश्चयी पुरुषों का) निश्चय और सत्त्वशीलों का सत्त्व मैं हूँ । (३७) मैं यादवों में वासुदेव, पांडवों में धनञ्जय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ । (३८) मैं शासन

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥
नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

करनेवालों का दंड, जय की इच्छा करनेवालों की नीति और गुह्यों में मौन ँ। ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ। (३९) इसी प्रकार हे अर्जुन! सब भूतों का जो कुछ बीज हैं वह मैं हूँ; ऐसा कोई चर-अचर भूत नहीं है जो मुझे छोडे हो। (४०) हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। विभूतियों का यह विस्तार मैंने (केवल) दिग्दर्शनार्थ बतलाया है।

(४१) जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है, उसको तुम मेरे तेज के अंश से उपजी हुई समझो।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(४२) अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस फैलाव को जान कर करना क्या है? (संक्षेप में बतला देता हूँ कि) मैं अपने एक (ही) अंश से इस सारे जगत् को व्याप्त कर रहा हूँ।

[प्रगट है, कि जब भगवान् अपने एक ही अंश से इस जगत् में व्याप्त हो रहे हैं, तब इसकी अपेक्षा भगवान् की पूरी महिमा बहुत ही अधिक होगी; और उसे बतलाने के हेतु से ही अन्तिम श्लोक कहा गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

ग्यारहवाँ अध्याय ।

[जब पिछले अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया, तब उसे सुन कर अर्जुन को परमेश्वर का विश्वरूप देखने की इच्छा हुई । भगवान् ने उसे जिस विश्वरूप का दर्शन कराया, उसका वर्णन इस अध्याय में है । यह वर्णन इतना सरस है, कि गीता के उत्तम भागों में इसकी गिनती होती है, और अन्यान्य गीताओं की रचना करनेवालों ने इसी का अनुकरण किया है । प्रथम अर्जुन पूछता है, कि—]

अर्जुन ने कहा—(१) मुझ पर अनुग्रह करने के लिये तुमने अध्यात्म-संज्ञक जो परम गुप्त बात बतलाई, उससे मेरा यह मोह जाता रहा । (२) इसी प्रकार हे

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

कमलपत्राक्ष! भूतों की उत्पत्ति, लय, और (तुम्हारा) अक्षय महात्म्य भी मैंने तुमसे विस्तार सहित सुन लिया। (३) (अब) हे परमेश्वर! तुमने अपना जैसा वर्णन किया है, हे पुरुषोत्तम! मैं तुम्हारे उस प्रकार के ईश्वरी स्वरूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ। (४) हे प्रभो! यदि तुम समझते हो, कि उस प्रकार का रूप मैं देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर! तुम अपना अव्यय स्वरूप मुझे दिखलाओ।

[सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का आरम्भ कर, सातवें और आठवें में परमेश्वर के अक्षर अथवा अव्यक्त रूप का तथा

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥
पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

नवें एवं दसवें में अनेक व्यक्त रूपों का जो ज्ञान बतलाया है, उसे ही अर्जुन ने पहले श्लोक में 'अध्यात्म' कहा है ।]

श्रीभगवान् ने कहा—(५) हे पार्थ ! मेरे अनेक प्रकार के, अनेक रङ्गों के और आकारों के (इन) सैकडों अथवा हजारों दिव्य रूपों को देखो । (६) यह देखो (बारह) आदित्य, (आठ) वसु, (ग्यारह) रुद्र, (दो) अश्विनीकुमार, और (४९) मरुद्गण । हे भारत ! ये अनेक आश्चर्य देखो, कि जो पहले कभी भी न देखे होंगे ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

(७) हे गुडाकेश! आज यहाँ पर एकत्रित सब चर-अचर जगत् देख ले; और भी जो कुछ तुझे देखने की लालसा हो वह मेरी (इस) देह में देख ले! (८) परंतु तू अपनी इसी दृष्टि से मुझे देख न सकेगा, तुझे मैं दिव्य दृष्टि देता हूँ, (इससे) मेरे इस ईश्वरी योग अर्थात योग-सामर्थ्य को देख

संजय ने कहा—(९) फिर हे राजा धृतराष्ट्र! इस प्रकार कह करके योगों के ईश्वर हरि ने अर्जुन को

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनन् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

(अपना) श्रेष्ठ ईश्वरी रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया। (१०) उसके अर्थात् विश्वरूप के अनेक मुख और नेत्र थे, और उसमें अनेक अद्भुत दृश्य देख पड़ते थे, उस पर अनेक प्रकार के दिव्य अलंकार थे और उस में नाना प्रकार के दिव्य आयुध सज्जित थे। (११) उस अनन्त, सर्वतोमुख और सब आश्चर्यों से भरे हुए देवता के दिव्य सुगन्धित उबटन लगा हुआ था और वह दिव्य पुष्प एवं वस्त्र धारण किये हुए था। (१२) यदि आकाश में एक हजार सूर्यों की प्रभा एकसाथ हो, तो वह उस महात्मा की कान्ति के समान (कुछ कुछ)

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा॥ १३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत॥ १४॥

अर्जुन उवाच।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

देख पड़े! (१३) तब देवाधिदेव के इस शरीर में नाना प्रकार से बँटा हुआ सारा जगत् अर्जुन को एकत्रित दिखाई दिया। (१४) फिर आश्चर्य में डूबने से उसके शरीर पर रोमाञ्च खड़े हो आये; और मस्तक नमा कर नमस्कार करके एवं हाथ जोड़ कर उस अर्जुन ने देवता से कहा—

अर्जुन ने कहा—(१५) हे देव! तुम्हारी इस देह में

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

सब देवताओं को और नाना प्रकार के प्राणियों के समुदायों को, ऐसे ही कमलासन पर बैठे हुए (सब देवताओं के) स्वामी ब्रह्मदेव, सब ऋषियों और (वासुकि प्रभृति) सब दिव्य सर्पों को भी मैं देख रहा हूँ। (१६) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्र-धारी, अनन्तरूपी तुम्हीं को मैं चारों ओर देखता हूँ; परन्तु हे विश्वेश्वर, विश्वरूप ! तुम्हारा न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही मुझे (कहीं) देख पडता है। (१७) किरीट, गदा और चक्र धारण करनेवाले,

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यांतमनंतवीर्य-
मनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

चारों ओर प्रभा फैलाये हुए, तेजःपुंज, दमकते हुए अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, आँखों से देखने में भी अशक्य और अपरंपार (भरे हुए) तुम्हीं मुझे जहाँ-तहाँ देख पड़ते हो। (१८) तुम्हीं अन्तिम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म), तुम्हीं इस विश्व के अन्तिम आधार, तुम्हीं अव्यय और तुम्हीं शाश्वत धर्म के रक्षक हो; मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पड़ते हो (१९) जिसके न आदि है, न मध्य और न अन्त, अनन्त जिसके बाहु

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१॥

हैं, चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, ऐसे अनन्त शक्तिमान् तुम ही अपने तेज से इस समस्त जगत् को तपा रहे हो; तुम्हारा ऐसा रूप मैं देख रहा हूँ। (२०) क्योंकि आकाश और पृथ्वी के बीच का यह (सब) अन्तर और सभी दिशाएँ अकेले तुम्हीं ने व्याप्त कर डाली हैं। हे महात्मन्! तुम्हारे इस अद्भुत और उग्र रूप को देख कर त्रैलोक्य (डर से) व्यथित हो रहा है। (२१) यह

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

देखो, देवताओं के समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं, (और) कुछ भय से हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे हैं, (एवं) 'स्वस्ति, स्वति' कह कर महर्षि और सिद्धों के समुदाय अनेक प्रकार के स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। (२२) रुद्र और आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनों) अश्विनीकुमार, मरुद्गण, उष्मपा अर्थात् पितर और गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं सिद्धों के झुण्ड कें झुण्ड विस्मित हो कर तुम्हारी ओर देख रहे हैं।

[श्राद्ध में पितरों को जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसे वे तभी तक ग्रहण करते हैं, जब तक कि वह गरमागरम रहे, इसी से उनको 'उष्मपा' कहते हैं (मनु. ३. २३७)।]

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा
धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

(२३) हे महाबाहु ! तुम्हारे इस महान्, अनेक मुखों के, अनेक आँखों के,अनेक भुजाओं के,अनेक जङ्घाओं के, अनेक पैरोंके, अनेक उदरों के और अनेक डाढ़ों के कारण बिकराल दिखनेवाले रूप को देख कर सब लोगों को और मुझे भी भय हो रहा है । (२४) आकाश से भिड़े हुए, प्रकाशमान, अनेक रंगों के, जबड़े फैलाये हुए और बड़े चमकीले नेत्रों से युक्त तुमको देख कर

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ ।
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

अन्तरात्मा घबड़ा गया है इससे हे विष्णो! मेरा धीरज छूट गया और शान्ति भी जाती रही! (२५) डाढ़ों से बिकराल तथा प्रलयकालीन अग्नि के समान तुम्हारे (इन) मुखों को देखते ही मुझे दिशाएँ नहीं सूझती और समाधान भी नहीं होता। हे जगन्निवास, देवाधिदेव! प्रसन्न हो जाओ! (२६) यह देखो! राजाओं के झुण्डों समेत धृतराष्ट्र के सब पुत्र, भीष्म,

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोंऽबुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

द्रोण और यह सूतपुत्र (कर्ण), हमारी भी ओर के मुख्य मुख्य योद्धाओं के साथ, (२७) तुम्हारी बिकराल डाढोंवाले इन अनेक भयङ्कर मुखों में धड़ाधड़ घुस रहे हैं, और कुछ लोग दाँतों में दब कर ऐसे दिखाई दे रहे हैं कि जिनकी खोपड़िया चुर हैं। (२८) तुम्हारे अनेक प्रज्वलित मुखों में मनुष्यलोक के ये वीर वैसे ही घुस रहे हैं, जैसे कि नदियों के बड़े बड़े

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगाः
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९ ॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समंता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

प्रवाह समुद्र की ही ओर चले जाते हैं। (२९) जलती हुई अग्नि में मरने के लिये बड़े वेग से जिस प्रकार पतङ्ग कूदते हैं, वैसे ही तुम्हारे भी अनक जबड़ों में (ये) लोग मरने के लिये बडे वेग से प्रवेश कर रहे हैं। (३०) हे विष्णो! चारों ओर से सब लोगों को अपने प्रज्वलित मुखों से निगल कर तुम जीभ चाट रहे हो! और तुम्हारी उग्र प्रभाएँ तेज से समूचे जगत् को

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

व्याप्त कर (चारों ओर) चमक रही हैं। (३१) मुझे बतलाओ कि इस उग्र रूप को धारण करनेवाले तुम कौन हो ? हे देवदेवश्रेष्ठ ! तुम्हें नमस्कार करता हूँ ! प्रसन्न हो जाओ ! मैं जानना चाहता हूँ कि तुम आदि-पुरुष कौन हो ! क्योंकि मैं तुम्हारी इस करनी को (बिलकुल) नहीं जानता।

श्रीभगवान् ने कहा—(३२) मैं लोकों का क्षय

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

करनेवाला और बढ़ा हुआ 'काल' हूँ; यहाँ लोकों का संहार करने आया हूँ। तू न हो तो भी (अर्थात् तू कुछ न करे तो भी), सेनाओं में खड़े हुए ये सब योद्धा नष्ट होनेवाले (मरनेवाले) हैं; (३३) अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर, और शत्रुओं को जीत करके समृद्ध राज्य का उपभोग कर। मैंने इन्हें पहले ही मार डाला है; (इसलिये अब) हे सव्यसाची (अर्जुन)! तू केवल निमित्त के लिये (आगे) हो। (३४) मैं

संजय उवाच।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा ऐसे ही अन्यान्य वीर योद्धाओं को (पहले ही) मार चुका हूँ; उन्हें तू मार; घबडाना नहीं ! युद्ध कर ! तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा !

[कर्मविपाक-प्रक्रिया का यह सिद्धान्त ३३ वें श्लोक में आ गया है, कि दुष्ट मनुष्य अपने कर्मों से ही मरते हैं, उनको मारनेवाला तो सिर्फ निमित्त है, इसलिये मारनेवाले को उसका दोष नहीं लगता ।]

सञ्जय ने कहा—(३५) केशव के इस भाषण को सुन कर अर्जुन अत्यन्त भयभीत हो गया, गला रुँध कर, काँपते-काँपते हाथ जोड, नमस्कार करके उसने श्रीकृष्ण से नम्र होकर फिर कहा—अर्जुन ने कहा—

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ ३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनंत देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

(३६) हे हृषीकेश! (सब) जगत् तुम्हारे (गुण-) कीर्तन से प्रसन्न होता है, और (उसमें) अनुरक्त रहता है, राक्षस तुमको डर कर (दशों) दिशाओं में भाग जाते हैं, और सिद्ध पुरुषों के संघ तुम्ही को नमस्कार करते हैं, यह (सब) उचित ही है। (३७) हे महात्मन्। तुम ब्रह्मदेव के भी आदिकरण और उससे भी श्रेष्ठ हो; तुम्हारी वन्दना वे कैसे न करेंगे? हे

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

अनन्त ! हे देवदेव ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् तुम्हीं हो, और इन दोनों से परे जो अक्षर है वह भी तुम्हीं हो !

[सत् और असत् शब्दों के अर्थ यहाँ पर क्रम से व्यक्त और अव्यक्त अथवा क्षर और अक्षर इन शब्दों के अर्थों के समान हैं।]

(३८) तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, तुम इस जगत् के परम आधार, तुम ज्ञाता और ज्ञेय तथा तुम श्रेष्ठस्थान हो; और हे अनन्तरूप ! तुम्ही ने (इस) विश्व को विस्तृत अथवा व्याप्त किया है। (३९)

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा, और परदादा भी तुम्हीं हो ! तुम्हें हज़ार बार नमस्कार है ! और फिर भी तुम्हीं को नमस्कार है।

[यहाँ प्रजापति शब्द एकवचनान्त है, इस कारण प्रजापति का अर्थ ब्रह्मदेव ही अधिक ग्राह्य देख पड़ता है, इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, मरीचि आदि के पिता अर्थात् सब के पितामह (दादा) हैं, अतः आगे का 'प्रपितामह' (परदादा) पद भी आप ही आप प्रगट होता है,और उसकी सार्थकता व्यक्त हो जाती है ।]

(४०) हे सर्वात्मक ! तुम्हें सामने से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है ओर सभी ओर से तुमको नमस्कार है। तुम्हारा वीर्य अनन्त है और तुम्हारा पराक्रम अतुल है, सब को यथेष्ट होने के कारण तुम्ही 'सर्व' हो।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ २१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२॥

[सामने से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, ये शब्द परमेश्वर की सर्वव्यापकता दिखलाते हैं]

(४१) तुम्हारी इस महिमा को बिना जाने, मित्र समझ कर प्यार से या भूल से 'अरे कृष्ण,' 'ओ यादव,' 'हे सखा,' इत्यादि जो कुछ मैं ने कह डाला हो, (४२) और हे अच्युत ! आहार-विहार में अथवा सोने-बैठने में, अकेले में या दस मनुष्यों के समक्ष मैं ने हँसी-दिल्लगी में तुम्हारा जो अपमान किया हो, उसके

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

लिये मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ। (४३) इस चराचर जगत् के पिता तुम्हीं हो, तुम पूज्य हो और गुरु के भी गुरु हो! त्रैलोक्य भर में तुम्हारी बराबरी का कोई नहीं है। फिर हे अतुलप्रभाव! अधिक कहाँ से होगा? (४४) तुम्हीं स्तुत्य और समर्थ हो; इसलिये मैं शरीर झुका कर नमस्कार करके तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि "प्रसन्न हो जाओ।" जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अथवा सखा अपने सखा के अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार हे देव ! प्रेमी (आप) को प्रिय के (अपने प्रेमपात्र के अर्थात् मेरे, सब) अपराध क्षमा करना चाहिये ।

[कुछ लोग " प्रियः प्रियायार्हसि " इन शब्दों का " प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी स्त्री के " ऐसा अर्थ करते हैं । परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है । प्रियाय+अर्हसि ऐसे व्याकरण की रीति से शुद्ध और सरल पद किये जायँ तो उपमेय में जहाँ षष्ठी होनी चाहिये, वहाँ ' प्रियाय ' यह चतुर्थी आती है,–बस इतना ही दोष रहता है, और यह दोष कोई विशेष महत्त्व का नहीं है । क्योंकि षष्ठी का अर्थ यहाँ चतुर्थी का सा है और अन्यत्र भी कई बार ऐसा होता है ।]

(४५) कभी न देखे हुए रूप को देख कर मुझे

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

हर्ष हुआ है और भय से मेरा मन व्याकुल भी हो गया है। हे जगन्निवास, देवाधिदेव ! प्रसन्न हो जाओ ! और हे देव ! अपना वही पहले का स्वरूप दिखलाओ। (४६) मैं पहले के समान ही किरीट और गदा धारण करनेवाले, हाथ में चक्र लिये हुए तुमको देखना चाहता हूँ; (अतएव) हे सहस्रबाहु, विश्वमूर्ति ! उसी चतुर्भुज रूप से प्रगट हो जाओ !

श्रीभगवान् ने कहा—(४७) हे अर्जुन ! (तुझपर)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्नच क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

प्रसन्न हो कर यह तेजोमय, अनन्त, आद्य और परम विश्वरूप अपने योग-सामर्थ्य से मैंने तुझे दिखालाया है; इसे तेरे सिवा और किसी ने पहले नहीं देखा। (४८) हे कुरुवीरश्रेष्ठ ! मनुष्यलोक में मेरे इस प्रकार का स्वरूप कोई भी वेद से, यज्ञों से, स्वाध्याय से, दान से, कर्मों से, अथवा उग्र तप से नहीं देख सकता, कि जिसे तूने देखा है। (४९) मेरे ऐसे घोर रूप को

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

देख कर अपने चित्त में व्यथा न होने दे; और मूढ मत हो जा । डर छोड कर संतुष्ट मन से मेरे उसी स्वरूप को, फिर देख ले । सञ्जय ने कहा—(५०) इस प्रकार भाषण करके वासुदेव ने अर्जुन को फिर अपना (पहले-का) स्वरूप दिखलाया; और फिर सौम्य रूप धारण करके उस महात्मा ने डरे हुए अर्जुन को धीरज बँधाया ।

अर्जुन ने कहा—(५१) हे जनार्दन ! तुम्हारे इस

श्रीभगवानुवाच।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

सौम्य और मनुष्य-देहधारी रूप को देख कर अब मन ठिकाने आ गया और मैं पहले की भाँति सावधान हो गया हूँ।

श्रीभगवान् ने कहा—(५२) मेरे जिस रूप को तू ने देखा है, इसका दर्शन मिलना बहुत कठिन है। देवता भी इस रूप को देखने की सदैव इच्छा किये रहते हैं। (५३) जैसा तूने मुझे देखा है वैसा मुझे वेदों से, तप से, दान से, अथवा यज्ञ से भी (कोई), देख नहीं सकता। (५४) हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति से ही

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना, और हे परन्तप ! मुझमें तत्त्व से प्रवेश करना सम्भव है ।

(५५) हे पाण्डव ! जो इस बुद्धि से कर्म करता है, कि सब कर्म मेरे अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मत्परायण और सङ्गविरहित है, और जो सब प्रणियों के विषय में निर्वैर है, वह मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है !

[उक्त श्लोक का आशय यह है, कि जगत् के सब व्यवहार भगवद्भक्त को परमेश्वरार्पणबुद्धि से करना चाहिये (ऊपर ३३ वाँ श्लोक देखो), अर्थात उसे सारे व्यवहार इस निरभिमान बुद्धि से करना चाहिये, कि जगत् के सभी कर्म परमेश्वर के हैं, सच्चा कर्ता और करानेवाला वही है; किन्तु हमें निमित्त

बना कर वह ये कर्म हम से करवा रहा है; ऐसा करने से वे कर्म, शांति अथवा मोक्ष-प्राप्ती में बाधक नहीं होते।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, विश्व-रूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

बारहवाँ अध्याय

[कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ कर आठवें में अक्षर, अनिर्देश और अव्यक्त ब्रह्म का स्वरूप बतलाया है। फिर नवें अध्याय में भक्तिरूप प्रत्यक्ष राजमार्ग के निरूपण का प्रारम्भ करके दसवें और ग्यारहवें में तदन्तर्गत 'विभूति-वर्णन' एवं 'विश्वरूप-दर्शन' इन दो उपाख्यानों का वर्णन किया है; और ग्यारहवें अध्याय के अन्त में सार-रूप से अर्जुन को उपदेश किया है, कि भक्ति से एवं निःसङ्ग बुद्धि से समस्त कर्म करते रहो। अब इस पर अर्जुन का प्रश्न है, कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें और आठवें अध्याय में क्षर-अक्षर-विचार पूर्वक परमेश्वर के अव्यक्त रूप को श्रेष्ठ सिद्ध करके अव्यक्त की अथवा अक्षर की उपासना (७. १९ और २४; ८. २१) बतलाई है और उपदेश किया है, कि युक्तचित्त से युद्ध कर (८. ७); एवं नवें अध्याय में व्यक्त उपासना-रूप प्रत्यक्ष धर्म बतला कर कहा है, कि परमेश्वरार्पण बुद्धि से सभी कर्म करना चाहिये (९. २७, ३४ और ११. ५५); तो अब इन दोनों में श्रेष्ठ मार्ग कौनसा है, इस प्रश्न में व्यक्तोपासना का अर्थ भक्ति है। परन्तु यहाँ भक्ति से भिन्न भिन्न अनेक उपास्यों का अर्थ विवक्षित नहीं है; उपास्य

द्वादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

अथवा प्रतीक कोई भी हो, उसमें एक ही सर्वव्यापी परमेश्वर की भावना रख कर जो भक्ति की जाती है, वही सच्ची व्यक्त उपासना है और इस अध्याय में वही उद्दिष्ट है।]

अर्जुन ने कहा—(१) इस प्रकार सदा युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं, और जो अव्यक्त अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना करते हैं उनमें उत्तम (कर्म-) योगवेत्ता कौन है ?

श्रीभगवान् ने कहा—(२) मुझमें मन लगा कर सदा युक्तचित्त हो करके परम श्रद्धा से जो मेरी उपा-

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

सना करते हैं, वे मेरे मत में सब से उत्तम युक्त अर्थात् योगी हैं। (३-४) परन्तु जो अनिर्देश अर्थात् प्रत्यक्ष न दिखलाये जानेवाले, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य और कूटस्थ अर्थात् सब के मूल में रहनेवाले, अचल और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोक कर सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं, वे सब भूतों के हित में निमग्न (लोग भी) मुझे ही पाते हैं; (५) (तथापि) उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उनके क्लेश अधिक होते हैं। क्योंकि (व्यक्त देहधारी मनुष्यों को) अव्यक्त उपा-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

सना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है । (६) परन्तु जो मुझ में सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके मत्परायण होते हुए अनन्य योग से मेरा ध्यान कर मुझे भजते हैं, (७) हे पार्थ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगों का, मैं इस मृत्युमय संसार-सागर से बिना विलम्ब किये, उद्धार कर देता हूँ। (८) (अतएव) मुझमें ही मन लगा, मुझमें बुद्धि को स्थिर कर, इससे तू निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

[इसमें भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। दूसरे श्लोक में पहले यह सिद्धान्त किया है, कि भगवद्भक्त उत्तम योगी है; फिर तीसरे श्लोक में पक्षान्तरबोधक 'तु' अव्यय का प्रयोग कर, इसमें और चौथे श्लोक में कहा है, कि अव्यक्त की उपासना करनेवाले भी मुझे ही पाते हैं ! परन्तु इसके सत्य होने पर भी पाँचवें श्लोक में यह बतलाया है, कि अव्यक्त उपासकों का मार्ग अधिक क्लेशदायक होता है; छटे और सातवें श्लोक में वर्णन किया है, कि अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना सुलभ होती है; और आठवें श्लोक में इसके अनुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश किया है। सारांश, ग्यारहवें अध्याय के अन्त (गी. ११. ५५) में जो उपदेश कर आये हैं, यहाँ अर्जुन के प्रश्न करने पर उसी को दृढ कर दिया है। भक्तिमार्ग में भी कर्म न छोड़ कर ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना पड़ता है। इसी हेतु से छटे श्लोक में "मुझमें ही सब कर्मों का संन्यास कर के" ये शब्द रखे गये हैं।]

(९) अब (इस प्रकार) मुझमें भली भाँति चित्त को स्थिर करते न बन पड़े तो हे धनञ्जय !

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अभ्यास की सहायता से अर्थात् बारम्बार प्रयत्न करके मेरी प्राप्ति कर लेने की आशा रख । (१०) यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो तो मदर्थ अर्थात् मेरी प्राप्ति के अर्थ (शास्त्रों में बतलाये हुए ज्ञान-ध्यान-भजन पूजापाठ आदि) कर्म करता जा; मदर्थ (ये) कर्म करने से भी तू सिद्धि पावेगा, (११) परन्तु यदि इनके करने में भी तू असमर्थ हो, तो उद्योग— मदर्पणपूर्वक योग यानी कर्मयोग—का आश्रय करके यतात्मा होकर अर्थात् धीरे धीरे चित्त को रोकता हुआ (अन्त में) सब कर्मों के फलों का त्याग कर दे ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनंतरम् ॥१२॥

(१२) क्योंकि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है, ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, और (इस कर्मफल के) त्याग से तुरंत ही शांति प्राप्त होती है ।

[कर्मयोग की दृष्टि से ये श्लोक अत्यन्त महत्त्व के हैं । इन श्लोकों में भक्तियुक्त कर्मयोग के सिद्ध होने के लिये अभ्यास, ज्ञान-भजन आदि साधन बतला कर, इसके और अन्य साधनों के तारतम्य का विचार करके अन्त में अर्थात् १२ वें श्लोक में, कर्मफल के त्याग की अर्थात् निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता वर्णित है । गीता में निष्काम कर्मयोग को ही प्रतिपाद्य मान लेने से इस श्लोक के अर्थ के विषय में कोई भी अड़चन नहीं रहती । इस प्रकार निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाने पर यही प्रश्न रह जाता है, कि कर्मयोग में आवश्यक भक्तियुक्त साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये उपाय क्या है । ये उपाय

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

तीन हैं–अभ्यास, ज्ञान और ध्यान । इनमें, यदि किसी से अभ्यास न सधे तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में से किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले। गीता का कथन है, कि इन उपायों का आचरण करना, यथोक्त क्रम से सुलभ है । १२ वें श्लोक में कहा है, कि यदि इनमें से एक भी उपाय न सधे, तो मनुष्य को चाहिये कि वह कर्मयोग के आचरण करने का ही एकदम आरम्भ कर दे । १२ वें श्लोक में यह नहीं कहा है, कि सब कर्मों के फलों का 'एकदम' त्याग कर दे; बरन् यह कहा है कि पहले, भगवान् के बतलाये हुए कर्मयोग का आश्रय करके, (ततः) तदनन्तर धीरे धीरे इस बात को अन्त में सिद्ध कर ले । और ऐसा अर्थ करने से कुछ भी विसङ्गति नहीं रह जाती। सारांश, भगवद्गीता का निश्चित मत यह है, कि कर्मफल-त्यागरूपी योग अर्थात् ज्ञान-भक्ति-युक्त निष्काम कर्मयोग ही सब मार्गों में श्रेष्ठ है; और इसके अनुकूल ही नहीं प्रत्युत पोषक युक्तिवाद १२ वें श्लोक में है।]

(१३) जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब भूतों के साथ मित्रता से बर्तता है, जो कृपालु है, जो

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

ममत्वबुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है, (१४) जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढनिश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा (कर्म-) योगी भक्त मुझको प्यारा है। (१५) जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से क्लेश पाता है, ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है। (१६) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है कि जो निरपेक्ष, पवित्र और

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥

दक्ष है अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड कर करता है, जो (फल के विषय में) उदासीन है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता, और जिसने (काम्यफल के) सब आरम्भ यानी उद्योग छोड दिये हैं। (१७) जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने (कर्म के) शुभ और अशुभ (फल) छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं, और जिसे (किसी

तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

में भी) आसक्ति नहीं है, (१९) जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक सी हैं, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जावे उसी में संतुष्ट है, एवं जिसका चित्त स्थिर है, जो अनिकेत है अर्थात् जिसका (कर्मफलाशारूप) ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।

[जिसका चित्त घर-गृहस्थी में, बालबच्चों में, अथवा संसार के अन्यान्य कामों में उलझा रहता है, उसी को आगे दुःख होता है। अतएव, गीता का इतना ही कहना है, कि इन सब बातों में चित्त को फँसने न दो। और मन की इसी वैराग्य स्थिति को प्रगट करने लिये गीता में 'अनिकेत' और 'सर्वारम्भपरित्यागी' आदि शब्द स्थितप्रज्ञ के वर्णन में आया करते हैं।]

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(२०) ऊपर बतलाये हुये इस अमृततुल्य धर्म का जो मत्परायण होते हुए श्रद्धा से आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

[यह वर्णन हो चुका है (गी. ६. ४७; ७. १८) कि भक्तिमान् ज्ञानी पुरुष सब से श्रेष्ठ है, उसी वर्णन के अनुसार भगवान् ने इस श्लोक में बतलाया है, कि हमें अत्यन्त प्रिय कौन है। अर्थात् यहाँ परम भगवद्भक्त कर्मयोगी का वर्णन किया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

तेरहवाँ अध्याय।

[पिछले अध्याय में यह बात सिद्ध की गई है, कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वर का (बुद्धि से) चिन्तन करने पर अन्त में मोक्ष तो मिलता है; परन्तु उसकी अपेक्षा, श्रद्धा से परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूप की भक्ति करके परमेश्वरार्पण बुद्धि से सब कर्मो को करते रहने पर, वही मोक्ष सुलभ रीति से मिल जाता है। परन्तु इतने ही से ज्ञान–विज्ञान का वह निरूपण समाप्त नही हो जाता, कि जिसका आरम्भ सातवें अध्याय में किया गया है। परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के लिये बाहरी सृष्टि के क्षर-अक्षर-विचार के साथ ही साथ मनुष्य के शरीर और आत्मा का अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भी विचार करना पड़ता है। ऐसे ही यदि सामान्य रीति से जान लिया, कि सब व्यक्त पदार्थ जड़ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, तो भी यह बतलाये बिना ज्ञान-विज्ञान का निरूपण पूरा नहीं होता, कि प्रकृति के किस गुण से यह विस्तार होता है और उसका क्रम कौनसा है। अतएव तेरहवें अध्याय में पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार, और फिर आगे चार अध्यायों में गुणत्रय का विभाग, बतला कर अठारहवें अध्याय में समग्र विषय का उपसंहार किया गया है। सारांश, तीसरी षड्ध्यायी स्वतन्त्र नहीं है, कर्मयोग की सिद्धि के लिये

त्रयोदशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

जिस ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का सातवें अध्याय में आरम्भ हो चुका है उसी की पूर्ति इस षडध्यायी में की गई है। देखो गीता-रहस्य पृ. ४५९-४६१। गीता की कई एक प्रतियों में, इस तेरहवें अध्याय के आरम्भ में, यह श्लोक पाया जाता है "अर्जुन उवाच—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥" और उसका अर्थ यह है—"अर्जुन ने कहा, मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के जानने की इच्छा है, सो बतलाओ।" परन्तु स्पष्ट देख पड़ता है, कि किसी ने यह न जान कर कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार गीता में आया कैसे है, पीछे से यह श्लोक गीता में घुसेड़ दिया है। टीकाकार इस श्लोक को क्षेपक मानते हैं. और क्षेपक न मानने से गीता के श्लोकों की संख्या भी सात सौ से एक अधिक बढ़ जाती है। अतः इस श्लोक को हमने भी प्रक्षिप्त ही मान कर, शाङ्करभाष्य के अनुसार इस अध्याय का आरम्भ किया है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) हे कौन्तेय! इसी शरीर

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥३॥

को क्षेत्र कहते हैं। इसे (शरीर को) जो जानता है उसे, तद्विद् अर्थात् इस शास्त्र के जाननेवाले, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (२) हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है।

[पहले श्लोक में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' इन दो शब्दों का अर्थ किया है; और दूसरे श्लोक में क्षेत्रज्ञ का स्वरूप बतलाया है, कि क्षेत्रज्ञ मैं परमेश्वर हूँ, अथवा जो पिण्ड में है वही ब्रह्मांड में है। दूसरे श्लोक के चापि = भी शब्दों का अर्थ यह है—न केवल क्षेत्रज्ञ ही प्रत्युत क्षेत्र भी मैं ही हूँ।]

(३) क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकार का है, उसके कौन कौन विकार हैं, (उसमें भी) किससे क्या होता

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

है;ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है—इसे मैं संक्षेप से बतलाता हूँ, सुन। (४) ब्रह्मसूत्र के पदों से भी यह विषय गाया गया है, कि जिन्हें बहुत प्रकार से, विविध छन्दों में पृथक् पृथक् (अनेक) ऋषियों ने (कार्य-कारणरूप) हेतु दिखला कर पूर्ण निश्चित किया है।

[गीतारहस्य के परिशिष्ट प्रकरण (पृ. ५३२-५३६) में हमने विस्तार पूर्वक दिखलाया है, कि इस श्लोक में ब्रह्मसूत्र शब्द से वर्तमान वेदान्तसूत्र उदिष्ट हैं। अनेक ऋषियों को भिन्न भिन्न काल या स्थान में जिन अध्यात्म-विचारों का स्फुरण हो आया, वे विचार बिना किसी पारस्परिक सम्बन्ध के भिन्न भिन्न उपनिषदों में वर्णित हैं। इसलिये उपनिषद् सङ्कीर्ण हो गये हैं और कई स्थानों पर वे परस्पर-विरुद्ध से जान पडते हैं। ऊपर के श्लोक के पहले चरण में जो 'विविध' और 'पृथक्' शब्द हैं वे उपनिषदों के इसी सङ्कीर्ण स्वरूप का बोध कराते हैं। अर्थात्

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

उपनिषदों का रहस्य समझने के लिये वेदान्तसूत्रों की सदैव जरूरत पडती है। अतः इस श्लोक में दोनों ही का उल्लेख किया गया है।]

(५) (पृथिवी आदि पाँच स्थूल) महाभूत अहङ्कार, बुद्धि (महान्),अव्यक्त (प्रकृति), दश (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ और एक (मन); तथा (पाँच) इन्द्रियों के पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सूक्ष्म) विषय, (६) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदि का व्यक्त व्यापार, और धृति यानी धैर्य, इस (३१ तत्त्वों के) समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

[यह क्षेत्र और उसके विकारों का लक्षण है। पांचवें श्लोक में सांख्यमतवालों के पच्चीस तत्त्वों में से, पुरुष को छोड शेष चौबीस तत्त्वों में मन का समावेश होने के कारण, क्षेत्र शब्द

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

की व्याख्या को निःसन्दिग्ध करने के लिये यहाँ स्पष्ट रीति से क्षेत्र में ही इच्छा-द्वेष आदि द्वन्दों का समावेश कर लिया है और उसी में भय-अभय आदि द्वन्द्वों का भी लक्षणा से समावेश हो जाता है। सब का संघात अर्थात् समूह क्षेत्र से स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है, उसकी गणना क्षेत्र में ही की गई है। यहाँ चेतना से 'जड देह में प्राण आदि के देख पड़नेवाले व्यापार, अथवा जीवितावस्था की चेष्टा,' इतना ही अर्थ विवक्षित है; और ऊपर दूसरे श्लोक में कहा है, कि जड़ वस्तु में यह चेतना जिससे उत्पन्न होती है वह चिच्छक्ति अथवा चैतन्य क्षेत्रज्ञ-रूप से, क्षेत्र से अलग रहता है।]

(७) मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, (८) इंद्रियों के विषयों में विराग, अहङ्कार-हीनता और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःखों को (अपने पीछे

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

लगे हुए) दोष समझना; (९) (कर्म में) अनासक्ति, बालबच्चों और घर-गृहस्थी आदि में लम्पट न होना, इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त की सर्वदा एक ही सी वृत्ति रखना, (१०) और मुझमें अनन्य भाव से अटल भक्ति, 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थान में रहना, साधारण लोगों के जमाव को पसन्द न करना, (११) अध्यात्म-ज्ञान को नित्य समझना और तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों का परिशीलन—इनको ज्ञान कहते हैं, इसके व्यतिरिक्त जो कुछ है वह सब अज्ञान है ।

**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥**

[यह नहीं बतलाया, कि बुद्धि से अमुक अमुक जान लेना ही ज्ञान है; बल्कि, ऊपर पाँच श्लोकों में ज्ञान की इस प्रकार व्याख्या की गई है, कि जब उक्त श्लोकों में बतलाये हुए बीस गुण (मान और दम्भ का छूट जाना, अहिंसा, अनासक्ति, सम-बुद्धि, इत्यादि) मनुष्य के स्वभाव में देख पड़ने लगे तब उसे ज्ञान कहना। चाहिये; दसवें श्लोक में " विविक्तस्थान में रहना और जमाव को नापसन्द करना " भी ज्ञान का एक लक्षण कहा है; इससे कुछ लोगों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि गीता को संन्यासमार्ग ही अभीष्ट है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है, और ऐसा अर्थ करना उचित भी नहीं है।]

(१२) (अब तुझे) वह बतलाता हूँ (कि) जिसे जान लेने से 'अमृत' अर्थात् मोक्ष मिलता है। (वह) अनादि (सब से) परे का ब्रह्म है। न उसे 'सत्' कहते हैं और न 'असत्' ही।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥१५॥

(१३) उसके, सब ओर हाथ-पैर हैं; सब ओर आंखें, सिर और मुंह हैं; सब ओर कान हैं; और वही इस लोक में सब को व्याप रहा है। (१४) (उसमें) सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है, पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है; वह (सब से) असक्त अर्थात् अलग हो कर भी सब का पालन करता है; और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग करता है। (१५) (वह) सब भूतों के भीतर और बाहर भी है; अचर है और चर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है; और दूर होकर भी समीप है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च यज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

(१६) वह तत्त्वतः 'अविभक्त' अर्थात् अखंडित होकर भी, सब भूतों में मानों (नानात्व से) विभक्त हो रहा है; और (सब) भूतों का पालन करनेवाला, ग्रसनेवाला एवं उत्पन्न करनेवाला भी उसे ही समझना चाहिये । (१७) उसे ही तेज का भी तेज, और अन्धकार से परे का कहते हैं; ज्ञान, जो जानने योग्य है वह (ज्ञेय), और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञान से (ही) विदित होनेवाला भी (वही) है, सब के हृदय में वही अविष्ठित है ।

[अचिन्त्य और अक्षर परब्रह्म—जिसे क्षेत्रज्ञ अथवा परमात्मा भी कहते हैं—(गी. १३. २२) का जो वर्णन ऊपर है, वह आठवें अध्यायवाले अक्षर ब्रह्म के वर्णन के समान (गी. ८. ९९-११) उपनिषदों के आधार पर किया गया है ।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

सोलहवें श्लोक में ' विभक्तमिव ' का अनुवाद यह है— " मानों विभक्त हुआ सा देख पड़ता है "। यह ' इव ' शब्द उपनिषदों में अनेक बार इसी अर्थ में आया है, कि जगत् का नानात्व भ्रान्तिकारक है और एकत्व ही सत्य है। उदाहरणार्थ "द्वैतमिव भवति, " " य इह नानेव पश्यति " इत्यादि]

(१८) इस प्रकार संक्षेप से बतला दिया कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय किसे कहते हैं। मेरा भक्त इसे जान कर, मेरे स्वरूप को पाता है।

[१८ वें श्लोक में यह सिद्धान्त बतला दिया है, कि जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ही परमेश्वर का ज्ञान है, तब आगे यह आप ही सिद्ध है, कि उसका फल भी मोक्ष ही होना चाहिये]

(१९) प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि समझ। विकार और गुणों को प्रकृति से ही उपजा हुआ जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

[सांख्यशास्त्र के मत में प्रकृति और पुरुष दोनों न केवल अनादि हैं प्रत्युत स्वतंत्र और स्वयंभू भी हैं । वेदान्ती समझते हैं कि प्रकृति परमेश्वर से ही उत्पन्न हुई है, अतएव वह न स्वयम्भू है और न स्वतन्त्र है (गी. ४. ५. ६,) । परन्तु यह नहीं बतलाया जा सकता, कि परमेश्वर से प्रकृति कब उत्पन्न हुई; और पुरुष (जीव) परमेश्वर का ही अंश है (गी. १५. ७); इस कारण वेदान्तियों को इतना मान्य है, कि दोनों अनादि हैं । इस विषय का अधिक विवेचन गीतारहस्य के ७ वें प्रकरण में और विशेषतः पृ. १६१–१६७ में, एवं १० वें प्रकरण के पृ. २६२–२६५ में किया है ।]

(२०) कार्य अर्थात् देह के और करण अर्थात् इन्द्रियों के कर्तृत्व के लिये प्रकृति कारण कही जाती है; और (कर्ता न होने पर भी) सुख-दुःखों को भोगने के लिये पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण कहा जाता है ।

[इस श्लोक में 'कार्यकरण' के स्थान में 'कार्यकारण' भी पाठ है । प्रकृति से जगत् के उत्पन्न होने का वर्णन तो पहले

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टाऽनुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

ही सातवें और नवें अध्याय में हो चुका है। अतएव 'कार्यक-रण' पाठ ही यहाँ अधिक प्रशस्त देखा पड़ता है।]

(२१) क्योंकि पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित हो कर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है; और (प्रकृति के) गुणों का यह संयोग पुरुष को भली-बुरी योनियों में जन्म लेने के लिये कारण होता है।

[प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का और भेद का यह वर्णन सांख्यशास्त्र का है]

(२२) (प्रकृति के गुणों के) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठ कर देखनेवाले, अनुमोदन करनेवाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों को) बढ़ानेवाले, और उपभोग करनेवाले को ही इस देह में परपुरुष महेश्वर और पर-

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे ॥ २४॥

मात्मा कहते हैं । (२३) इस प्रकार पुरुष (निर्गुण) और प्रकृति को ही जो गुणों समेत जानता है, वह कैसा ही बर्ताव क्यों न किया करे उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

[२२ वें श्लोक में जब यह निश्चय हो चुका, कि पुरुष ही देह में परमात्मा है, तब सांख्यशास्त्र के अनुसार पुरुष का जो उदासीनत्व और अकर्तृत्व है वही आत्मा का अकर्तृत्व हो जाता है और इस प्रकार सांख्यों की उपपत्ति से वेदान्त की एकवाक्यता हो जाती है । यद्यपि सांख्यों का द्वैत-वाद गीता को मान्य नहीं है, तथापि उनके प्रतिपादन में जो कुछ युक्तिसङ्गत जान पडता है, वह गीता को अमान्य नहीं है ।]

(२४) कुछ लोग स्वयं अपने आप में ही ध्यान से आत्मा को देखते हैं; कोई सांख्ययोग से देखते हैं

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

और कोई कर्मयोग से। (२५) परन्तु इस प्रकार जिन्हें (अपने आप ही) ज्ञान नहीं होता वे दूसरे से सुन कर (श्रद्धा से परमेश्वर का) भजन करते हैं। सुनी हुई बात को प्रमाण मान कर बर्तनेवाले ये पुरुष भी मृत्यु को पार कर जाते हैं।

[इन दो श्लोकों में आत्मज्ञान के भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये गये हैं। कोई किसी भी मार्ग से जावे, अन्त में उसे भगवान् का ज्ञान हो कर मोक्ष मिल ही जाता है। तथापि पहले जो यह सिद्धान्त किया गया है, कि लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह इससे खण्डित नहीं होता।]

(२६) हे भरतश्रेष्ठ ! स्मरण रख, कि स्थावर या जङ्गम किसी भी वस्तु का निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

के संयोग से होता है। (२७) सब भूतों में एक सा रहने-वाला, और सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को जिसने देख लिया, कहना होगा कि उसी ने (सच्चे तत्त्व को) पहचाना। (२८) ईश्वर को सर्वत्र एक सा व्याप्त समझ कर (जो पुरुष) अपने आप ही घात नहीं करता, अर्थात् अपने आप अच्छे मार्ग में लग जाता है, वह इस कारण से उत्तम गति पाता है।

(२९) जिसने यह जान लिया कि (सब) कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति से ही किये जाते हैं, और

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

आत्मा अकर्ता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता, कहना चाहिये कि उसने (सच्चे तत्त्व को) पहचान लिया । (३०) जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकता से (दीखने लगे), और इस (एकता) से ही (सब) विस्तार दीखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है ।

(३१) हे कौन्तेय ! अनादि और निर्गुण होने के कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीर में रह कर भी कुछ करता-धरता नहीं है, और उसे (किसी भी कर्म का) लेप अर्थात् बन्धन नहीं लगता । (३२) जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है परन्तु सूक्ष्म होने के कारण

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोध्यायः ॥१३॥

उसे (किसी का भी) लेप नहीं लगता, वैसे ही देह में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा को (किसी का भी) लेप नहीं लगता। (३३) हे भारत! जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है।

(३४) इस प्रकार ज्ञान-चक्षु से अर्थात् ज्ञानरूप नेत्र से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को, एवं सब भूतों की (मूल) प्रकृति के मोक्ष को, जो जानते हैं वे परब्रह्म को पाते हैं।

[यह पूरे प्रकरण का उपसंहार है। 'भूतप्रकृतिमोक्ष' शब्द का अर्थ हमने सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार किया है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक ज्ञान-चक्षु से विदित होनेवाला है (गी. १३.३४); नवें अध्याय की राजविद्या प्रत्यक्ष अर्थात् चर्मचक्षु से ज्ञात होनेवाली है (गी. ९.२); और विश्वरूप-दर्शन परम भगवद्भक्त को भी केवल दिव्य-चक्षु से ही होनेवाला है (गी. ११. ८)। नवें, ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय के ज्ञान-विज्ञान निरूपण का उक्त भेद ध्यान देने योग्य है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में प्रकृति-पुरुष-विवेक अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

चौदहवाँ अध्याय ।

[तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार एक बार वेदान्त की दृष्टि से और दूसरी बार सांख्य की दृष्टि से बतलाया है; एवं उसी में प्रतिपादन किया है, कि सब कर्तृत्व प्रकृति का ही है, पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ उदासीन रहता है । परन्तु इस बात का विवेचन अब तक नहीं हुआ, कि प्रकृति का यह कर्तृत्व क्योंकर चला करता है । अतएव इस अध्याय में बतलाते हैं, कि एक ही प्रकृति से विविध सृष्टि, विशेषतः सजीव सृष्टि, कैसे उत्पन्न होती है । केवल मानवी सृष्टि का ही विचार करें तो यह विषय क्षेत्र-सम्बन्धी अर्थात् शरीर का होता है, और उसका समावेश क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में हो सकता है । परन्तु जब स्थावर सृष्टि भी त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही फैलाव है, तब प्रकृति के गुण-भेद का यह विवेचन क्षर-अक्षर-विचार का भी भाग हो सकता है; अएतव इस संकुचित 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' नाम को छोड़ कर सातवें अध्याय में जिस ज्ञान-विज्ञान के बतलाने का आरम्भ किया था, उसी को स्पष्ट रीति से फिर भी बतलाने का आरम्भ भगवान् ने इस अध्याय में किया है । सांख्यशास्त्र की दृष्टि से इस विषय का विस्तृत निरूपण गीतारहस्य के आठवें प्रकरण में

चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

किया गया है । त्रिगुण के विस्तार का यह वर्णन अनुगीता और मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में भी है ।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) और फिर सब ज्ञानों से उत्तम ज्ञान बतलाता हूँ, कि जिसको जान कर सब मुनि लोग इस लोग से परम सिद्धि पा गये हैं । (२) इस ज्ञान का आश्रय करके मुझसे एकरूपता पाये हुए लोग, सृष्टि के उत्पत्तिकाल में भी नहीं जन्मते और प्रलयकाल में भी व्यथा नहीं पाते (अर्थात् जन्ममरण से एकदम छुटकारा पा जाते हैं) ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

(३) हे भारत! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी ही योनि है, मैं उस में गर्भ रखता हूँ; फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होने लगते हैं। (४) हे कौन्तेय! (पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो मूर्तियाँ जन्मती हैं, उनकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं बीजदाता पिता हूँ।

(५) हे महाबाहु! प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम गुण देह में रहनेवाले अव्यय अर्थात्

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

निर्विकार आत्मा को देह में बाँध लेते हैं। (६) हे निष्पाप अर्जुन! इन गुणों में निर्मलता के कारण प्रकाश डालनेवाला और निर्दोष सत्त्वगुण सुख और ज्ञान के साथ (प्राणी को) बाँधता है। (७) रजोगुण का स्वभाव रागात्मक है, इससे तृष्णा और आसक्ति की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय! वह प्राणी को कर्म करने के (प्रवृत्तिरूप) सङ्ग से बाँध डालता है। (८) किन्तु तमोगुण अज्ञान से उपजता है, वह सब प्राणियों को मोह में डालता है। हे भारत! वह प्रमाद, आलस्य

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

और निद्रा से (प्राणी को) बाँध लेता है। (९) सत्त्वगुण सुख में, और रजोगुण कर्म में, आसक्ति उत्पन्न करता है। परन्तु हे भारत! तमोगुण ज्ञान को ढँक कर प्रमाद अर्थात् कर्तव्य-मूढ़ता में या कर्तव्य के विस्मरण में आसक्ति उत्पन्न करता है।

[सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के ये पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं। किन्तु ये गुण पृथक् पृथक् कभी भी नहीं रहते, तीनों सदैव एकत्र रहा करते हैं।]

(१०) रज और तम को दबा कर सत्त्व (अधिक) होता है (तब उसे सात्त्विक कहना चाहिये); एवं इसी प्रकार सत्त्व और तम को दबा कर रज, तथा सत्त्व और रज को हटा कर तम (अधिक हुआ करता

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥

है)। (११) जब इस देह के सब द्वारों में (इन्द्रियों में) प्रकाश अर्थात् निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है, समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढा हुआ है। (१२) हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुण बढ़ने से लोभ, कर्म की ओर प्रवृत्ति और उसका आरम्भ, अतृप्ति एवं इच्छा उत्पन्न होती है। (१३) और हे कुरुनन्दन! तमोगुण की वृत्ति होने पर अँधेरा, कुछ भी न करने की इच्छा, प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य की विस्मृति और मोह भी उत्पन्न होता है।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

[यह बतला दिया, कि मनुष्य की जीवितावस्था में त्रिगुणों के कारण उसके स्वभाव में कौन कौन से फर्क़ पडते हैं ।]

(१४) सत्त्वगुण के उत्कर्ष-काल में यदि प्राणी मर जावे तो उत्तम तत्त्व जाननेवालों के, अर्थात् देवता आदि के, निर्मल (स्वर्ग प्रभृति) लोक उसको प्राप्त होते हैं । (१५) रजोगुण की प्रबलता में मरे तो जो कर्मों में आसक्त हों, उनमें (जनों में) जन्म लेता है; और तमोगुण में मरे तो (पशु-पक्षी आदि) मूढ़ यानियों में उत्पन्न होता है । (१६) कहा है कि, पुण्य-कर्म का फल निर्मल और सात्त्विक होता है; परन्तु

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

राजस कर्म का फल दुःख, और तामस कर्म का फल अज्ञान होता है। (१७) सत्त्व से ज्ञान, और रजोगुण से केवल लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुण से न केवल प्रमाद और मोह ही उपजता है, प्रत्युत् अज्ञान की भी उत्पत्ति होती है (१८) सात्त्विक पुरुष ऊपर के, अर्थात् स्वर्ग आदि लोकों को जाते हैं। राजस मध्यम लोक में अर्थात् मनुष्यलोक में रहते हैं और कनिष्ठ गुण-वृत्ति के तामस अधोगति पाते हैं।

(१९) द्रष्टा अर्थात् उदासीनता से देखनेवाला पुरुष, जब जान लेता है कि (प्रकृति के) गुणों के

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच।

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है, और जब (तीनों) गुणों से परे (तत्त्व को) पहचान जाता है; तब वह मेरे स्वरूप में मिल जाता है। (२०) देहधारी मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण (स्वरूप) उन तीनों गुणों को अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से विमुक्त होता हुआ अमृत का अर्थात् मोक्ष का अनुभव करता है।

[वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, उसी को सांख्यमतवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं; इसलिये त्रिगुणातीत होना ही माया से छूट कर परब्रह्म को पहचान लेना है (गी. २. ४५); और इसी को ब्राह्मी अवस्था कहते हैं (गी. २. ७२; १८ ५३)।]

अर्जुन ने कहा—(२१) हे प्रभो! किन लक्षणों

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥२३॥

से (जाना जाय कि वह) इन तीन गुणों के पार चला जाता है? (मुझे बतलाइये, कि) वह (त्रिगुणातीत का) आचार क्या है? और वह इन तीन गुणों के परे कैसे जाता है? श्रीभगवान् ने कहा—(२२) हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (अर्थात् क्रम से सत्त्व, रज और तम, इन गुणों के कार्य अथवा फल) होने से जी उनका द्वेष नहीं करता, और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा नहीं रखता; (२३) जो (कर्मफल के सम्बन्ध में) उदासीन-सा रहता है; (सत्त्व, रज और तम) गुण जिसे चल-विचल नहीं कर सकते; जो

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

इतना [illegible] स्थिर रहता है कि गुण (अपना अपना) काम करते हैं; जो डिगता नहीं है अर्थात् विकार नहीं पाता है; (२४) जिसे सुख-दुःख एक से ही हैं; जो स्व-स्थ है अर्थात् अपने में ही स्थिर है; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समान हैं; प्रिय-अप्रिय, निन्दा और अपनी स्तुति जिसे समसमान हैं; जो सदा धैर्य से युक्त है; (२५) जिसे मान-अपमान या मित्र और शत्रु-दल तुल्य हैं अर्थात् एक से हैं; और (इस समझ से कि प्रकृति सब कुछ करती है) जिसके सब (काम्य) उद्योग छूट गये हैं;—उस पुरुष को गुणातीत कहते हैं।

[यह इन दो प्रश्नों का उत्तर हुआ, कि त्रिगुणातीत पुरुष के

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

लक्षण क्या है, और आचार कैसा होता है । ये लक्षण, और दूसरे अध्याय में बतलाये हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२.५५-७२) एवं बारहवें अध्याय (१२. १३-२०) में बतलाये हुए भक्तिमान् पुरुष के लक्षण सब एक से ही हैं। अधिक क्या कहें 'सर्वारम्भपरित्यागी,' 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' और 'उदासीनः' प्रभृति कुछ विशेषण भी दोनों या तीनों स्थानों में एक ही हैं । तथापि तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में जब यह दृढ और अटल सिद्धान्त किया है, कि निष्काम कर्म किसी से भी नहीं छूट सकते, तब स्मरण रखना चाहिये कि ये स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त या त्रिगुणातीत सभी कर्मयोग-मार्ग के हैं ।]

(२६) और जो (मुझे ही सब कर्म अर्पण करने के) अव्यभिचार, अर्थात् एकनिष्ठ, भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह इन तीन गुणों को पार करके ब्रह्मभूत अवस्था पा लेने में समर्थ हो जाता है ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(२७) क्योंकि, अमृत और अव्यय ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधि के अत्यन्त सुख का अन्तिम स्थान मैं ही हूँ।

[इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि सांख्यों के द्वैत को छोड़ देने पर सर्वत्र एक ही परमेश्वर रह जाता है, इस कारण उसी की भक्ति से त्रिगुणात्मक अवस्था भी प्राप्त होती है। और, एक ही ईश्वर मान लेने से साधनों के सम्बन्ध में गीता का कोई भी आग्रह नहीं है (देखो गी. १३. २४ और २५.)।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, गुण-त्रय-विभाग-योग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

पंद्रहवाँ अध्याय ।

[क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार के सिलसिले में, तेरहवें अध्याय में उसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार के सदृश सांख्यों के प्रकृति-पुरुष का विवेक बतलाया है। चौदहवें अध्याय में यह कहा है, कि प्रकृति के तीन गुणों से मनुष्य-मनुष्य में स्वभाव-भेद कैसे उत्पन्न होता है, और उससे सात्त्विक आदि गति-भेद क्योंकर होते हैं; फिर यह विवेचन किया है, कि त्रिगुणातीत अवस्था अथवा अध्यात्म-दृष्टि से ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त की जाती है। यह सब निरूपण सांख्यों की परिभाषा में है अवश्य, परन्तु सांख्यों के द्वैत को स्वीकार न करते हुए, जिस एक ही परमेश्वर की विभूति प्रकृति और पुरुष दोनों हैं, उस परमेश्वर का ज्ञान-विज्ञान-दृष्टि से निरूपण किया गया है। परमेश्वर के स्वरूप के इस वर्णन के अतिरिक्त आठवें अध्याय में अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिदैवत आदि भेद दिखलाया जा चुका है। और, यह पहले ही कह आये हैं, कि सब स्थानों में एक ही परमात्मा व्याप्त है, एवं क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ भी वही है। अब इस अध्याय में पहले यह बतलाते हैं, कि परमेश्वर की ही रची हुई सृष्टि के विस्तार का, अथवा परमेश्वर के नाम-रूपात्मक विस्तार का ही कभी

पंचदशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

कभी वृक्षरूप से या वनरूप से जो वर्णन पाया जाता है, उसका बीज क्या है। फिर परमेश्वर के सभी रूपों में श्रेष्ठ पुरुषोत्तम-स्वरूप का वर्णन किया है।]

श्री भगवान् ने कहा--(१) जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं, कि जड़ (एक) ऊपर है और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता, (एवं) छन्दांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं, उसे (वृक्ष को) जिसने जान लिया वह पुरुष सच्चा वेदवेत्ता है।

[उक्त वर्णन ब्रह्मवृक्ष का अर्थात् संसारवृक्ष का है। मरहटी भाषा में संसार या प्रपंच का 'बालबच्चों में रहकर नित्य व्यवहार करना' यह अर्थ समझते हैं, परन्तु प्रकृत स्थल में यह संकुचित

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु संसार यानी " आखों के सामनें दीखनेवाला सर्व जगत् या दृश्य सृष्टि " यह अर्थ है । इस संसार को ही सांख्य-मत-वादी "प्रकृति का विस्तार" और वेदान्ती "भगवान् की माया का पसारा" कहते हैं; एवं अनुगीता में इसे ही 'ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन' (ब्रह्मारण्य) कहा है (देखो मभा. अश्व. ३५ और ४७) ।]

(२) नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फैली हुई हैं कि जो (सत्त्व आदि तीनों) गुणों से पली हुई हैं और जिनसे (शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध-रूपी) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं; एवं अन्त में कर्म का रूप पानेवाली उसकी जड़ नीचे मनुष्यलोक में भी बढ़ती बढ़ती गहरी चली गई है ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

[सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष यही दो मूल तत्त्व हैं; और जब पुरुष के आगे त्रिगुणात्मक प्रकृति अपना ताना-बाना फैलाने लगती है, तब महत् आदि तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं, और उनसे यह ब्रह्माण्ड-वृक्ष बन जाता है। दृश्य सृष्टिरूप वृक्ष के नाते से वेदों में पाये जानेवाले परमेश्वर के वर्णन का, और सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति के विस्तार या ब्रह्माण्ड-वृक्ष के वर्णन का इन दो श्लोकों में मेल कर दिया है।]

(३) परन्तु इस लोक में (जैसा कि ऊपर वर्णन किया है) वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता; अथवा अन्त, आदि और आधारस्थान भी नहीं मिलता। अत्यन्त गहरी जड़ोंवाले इस अश्वत्थ (वृक्ष) को अना-

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

सक्ति-रूप सुदृढ तलवार से काट कर, (४) फिर उस स्थान को ढूंढ़ निकालना चाहिये कि जहां जाने से फिर लौटना नहीं पड़ता; और यह सङ्कल्प करना चाहिये कि (सृष्टि-क्रम की यह) " पुरातन प्रवृत्ति जिससे उत्पन्न हुई है, उसी आद्य पुरुष की ओर मैं जाता हूँ। "

[तीसरे श्लोक के "उसका स्वरूप या आदि-अन्त नहीं मिलता" इन शब्दों से यही सिद्धान्त व्यक्त किया गया है कि कर्म अनादि है, और आगे चल कर इस कर्मवृक्ष का क्षय करने के लिये एक अनासक्ति ही को साधन बतलाया है; ऐसे ही उपासना करते समय जो भावना मन में रहती है, उसी के अनुसार आगे फल मिलता है (गी. ८.६)। अतएव चौथे श्लोक में स्पष्ट कर दिया है कि वृक्ष-छेदन की यह क्रिया होते समय मन में कौनसी भावना रहनी चाहिये।]

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

(५) जो मान और मोह से विरहित हैं, जिन्होंने आसक्ति-दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्मज्ञान में सदैव स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुखदुःख-संज्ञक द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय-स्थान को जा पहुँचते हैं (६) जहाँ जा कर फिर लौटना नहीं पड़ता, (ऐसा) वह मेरा परम स्थान है। उसे न तो सूर्य, न चन्द्रमा, (और) न अग्नि ही प्रकाशित करते हैं।

[ऊपर के श्लोक में 'परमस्थान' शब्द का अर्थ 'परब्रह्म' और इस ब्रह्म में मिल जाना ही ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष है।]

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

(७) जीवलोक (कर्मभूमि) में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली मन सहित छः, अर्थात् मन और पाँच (सूक्ष्म) इंद्रियों को (अपनी ओर) खींच लेता है (इसी को लिंग-शरीर कहते हैं)। (८) ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है और जब वह (स्थूल) शरीर से निकल जाता है तब यह जीव इन्हें (मन और पाँच इंद्रियों को) वैसे ही साथ ले जाता है जैसे कि (पुष्प आदि) आश्रय से गन्ध को वायु ले जाती है। (९) कान, आँख,

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

त्वचा, जीभ, नाक और मन में ठहर कर यह (जीव) विषयों को भोगता है।

[इन तीन श्लोकों में से, पहले में यह बतलाया है, कि सूक्ष्म या लिंग शरीर क्या है; फिर इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है कि लिङ्ग-शरीर स्थूल देह में कैसे प्रवेश करता है, वह उससे बाहर कैसे निकलता है, और उसमें रह कर विषयों का उपभोग कैसे करता है।]

(१०) (शरीर से) निकल जानेवाले को, रहनेवाले को, अथवा गुणों से युक्त हो कर (आप ही नहीं) उपभोग करनेवाले को मूर्ख लोग नहीं जानते। ज्ञान-चक्षु से देखनेवाले लोग (उसे) पहचानते हैं। (११) इसी प्रकार प्रयत्न करनेवाले योगी अपने आप में स्थित आत्मा को पहचानते हैं। परन्तु वे अज्ञ

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

लोग, कि जिनका आत्मा अर्थात् बुद्धि संस्कृत नहीं है, प्रयत्न करके भी उसे नहीं पहचान पाते।

[१० वें और ११ वें श्लोक में ज्ञान-चक्षु या कर्मयोग-मार्ग से आत्मज्ञान की प्राप्ति का वर्णन कर जीव की उत्क्रान्ति का वर्णन पूरा किया है ।]

(१२) जो तेज सूर्य में रह कर सारे जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है, उसे मेरा ही तेज समझ । (१३) इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश कर मैं ही (सब) भूतों को अपने तेज से धारण करता हूँ, और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) हो कर सब ओषधियों का अर्थात् वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।

[सोम शब्द के 'सोमवल्ली' और 'चन्द्र' अर्थ हैं ।]

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

(१४) मैं वैश्वानर-रूप अग्नि होकर प्राणियों की देहों में रहता हूँ, और प्राण एवं अपान से युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। (१५) इसी प्रकार मैं सब के हृदय में अधिष्ठित हूँ; स्मृति और ज्ञान एवं अपोहन अर्थात् उनका नाश मुझमें ही होता है; तथा सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्ता और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

(१६) (इस) लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' दो पुरुष हैं । सब (नाशवान्) भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को, अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले (प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व) को अक्षर कहते हैं । (१७) परन्तु उत्तम पुरुष (इन दोनों से) भिन्न है । उसको परमात्मा कहते हैं । वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य का) पोषण करता है। (१८) जब कि मैं क्षर से भी परे का और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) हूँ, लोक-व्यवहार

यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ।

[सोलहवें श्लोक में ' क्षर और ' अक्षर ' शब्द सांख्यशास्त्र के व्यक्त और अव्यक्त–अथवा व्यक्त सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति इन दो शब्दों से समानार्थक हैं । पुरुषोत्तम के उल्लिखित लक्षण में 'अक्षर ' शब्द का अर्थ अक्षर–ब्रह्म नहीं है, किन्तु उसका अर्थ अक्षर-प्रकृति है; और इस गड़बड़ से बचाने के लिये ही सोलहवें श्लोक में 'अक्षर अर्थात् कूटस्थ (प्रकृति)' यह विशेष व्याख्या की है। 'क्षर' (व्यक्त सृष्टि) एवं 'अक्षर ' (प्रकृति) से परे का **पुरुषोत्तम,** वास्तव में ये दोनों एक ही हैं । इसे ही परमात्मा कहते हैं और यही **परमात्मा** शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप से रहता है ।]

(१९) हे भारत! इस प्रकार बिना मोह के जो मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर सर्वभाव

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

से मुझे ही भजता है। (२०) हे निष्पाप भारत! यह गुह्य से भी गुह्य शास्त्र मैंने बतलाया है। इसे जानकर (मनुष्य) बुद्धिमान् अर्थात् बुद्ध या जानकार और कृतकृत्य हो जावेगा।

[यहाँ बुद्धिवान् का ही 'बुद्ध अर्थात् जानकार' अर्थ है। महाभारत में 'बुद्ध' शब्द का रूढार्थ 'बुद्धावतार' कहीं भी नहीं आया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षोडशोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

सोलहवाँ अध्याय ।

[पुरुषोत्तमयोग से क्षर-अक्षर-ज्ञान की परमावधि हो चुकी । सातवें अध्याय में जिस ज्ञान विज्ञान के निरूपण का आरम्भ यह दिखलाने के लिये किया गया था कि, कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है और उसी से मोक्ष मिलता है, उसकी यहाँ समाप्ति हो चुकी और अब यहीं उसका उपसंहार करना चाहिये । परन्तु नवें अध्याय (९. १२) में भगवान् ने जो यह बिलकुल संक्षेप में कहा था कि राक्षसी मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप को नहीं पहचानते, उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ किया गया है और अगले अध्याय में इसका कारण बतलाया गया है, कि मनुष्य-मनुष्य में भेद क्यों होते हैं । और अठारहवें अध्याय में पूरी गीता का उपसंहार है ।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) अभय (निडर),

गुरुकुल कांगड़ी

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञान-योग व्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान (-मार्ग) और (कर्म-) योग की तारतम्य से व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता, (२) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्र दृष्टि छोड कर उदार भाव रखना, सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना, मृदुता, (बुरे काम की) लाज, अचपलता अर्थात् फिजूल कामों का छूट जाना, (३) तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना—हे भारत! (ये) गुण दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए पुरुषों को प्राप्त होते हैं।

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

[दैवी सम्पत्ति के ये छब्बीस गुण और तेरहवें अध्याय में बतलाये हुये ज्ञान के बीस लक्षण (गी. १३. ७–११) वास्तव में एक ही हैं; और इसी से आगे के श्लोक में "अज्ञान' का समावेश आसुरी लक्षणों में किया गया है। ऊपर के श्लोकों में इन सब गुणों का समुच्चय इसी लिये बतलाया गया है, कि जिसमें दैवी सम्पत्ति के सात्त्विक रूप की पूरी कल्पना हो जावे और यदि एक शब्द में कोई अर्थ छूट गया हो तो दूसरे शब्द में उसका समावेश हो जावे। अस्तु; ऊपर की फेहरिस्त के 'ज्ञानयोग-व्यवस्थिति' शब्द का अर्थ हमने गीता ४. ४१ और ४२ वें श्लोक के आधार पर कर्मयोग-प्रधान किया है।]

(४) हे पार्थ! दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता और अज्ञान, आसुरी यानी राक्षसी सम्पत्ति में जन्मे हुए को प्राप्त होते हैं।

['अज्ञान' को आसुरी सम्पत्ति का लक्षण कह देने से प्रगट होता है कि 'ज्ञान' दैवी सम्पत्ति का लक्षण है।]

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

(५) (इनमें से) दैवी सम्पत्ति (परिणाम में) मोक्ष-दायक और आसुरी बन्धनदायक मानी जाती है । हे पाण्डव ! तू दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है । शोक मत कर ।

(६) इस लोक में दो प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं; (एक) दैव और दूसरे आसुर । (इनमें) दैव (श्रेणी का) वर्णन विस्तार से कर दिया; (अब) हे पार्थ ! मैं आसुर (श्रेणी का) वर्णन करता हूँ, सुन ।

(७) आसुर लोग नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है—अर्थात् वे यह नहीं जानते कि

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। उनमें न शुद्धता रहती है, न आचार और सत्य ही। (८) ये (आसुर लोग) कहते हैं कि सारा जगत् अ-सत्य है, अ-प्रतिष्ठ अर्थात् निराधार है, अनीश्वर यानी बिना परमेश्वर का है, अपरस्परसम्भूत अर्थात् एक दूसरे के बिना ही हुआ है, (अतएव) काम को छोड़ अर्थात् मनुष्य की विषय-वासना के अतिरिक्त इसका और क्या हेतु हो सकता है?

[हम समझते हैं कि यह वर्णन उन चार्वाक आदि नास्तिकों के मतों का है, कि जो वेदान्तशास्त्र या कापिल सांख्यशास्त्र के सृष्टिरचनाविषयक सिद्धान्त को नहीं मानते; और यही कारण है कि इस श्लोक के पदों का अर्थ सांख्य और अध्यात्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है। सांख्यशास्त्र में 'परस्परसम्भूत' शब्द से जो 'गुणों से गुणों का अन्योन्यजनन' वर्णित है, वही यहाँ विवक्षित है।]

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥
चिंतामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

(९) इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्प-बुद्धिवाले नष्टात्मा और दुष्ट लोक क्रूर कर्म करते हुए जगत् का क्षय करने के लिये उत्पन्न हुआ करते हैं, (१०) (और) कभी भी पूर्ण न होनेवाले काम अर्थात् विषयोपभोग की इच्छा का आश्रय करके ये (आसुरी लोक) दम्भ, मान और मद से व्याप्त हो कर मोह के कारण झूठमूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पना करके गंदे काम करने के लिये प्रवृत्त रहते हैं। (११) इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगने की) अगणित चिन्ताओं से ग्रसे हुए, कामोपभोग में डुबे हुए

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

और निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व माननेवाले (१२) सैकडों आशा-पाशों से जकडे हुए, काम-क्रोध परायण (ये आसुरी लोग) सुख लूटने के लिये अन्याय से बहुत सा अर्थ सञ्चय करने की तृष्णा करते हैं। (१३) मैंने आज यह पा लिया, (कल) उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा; यह धन (मेरे पास) है, और फिर वह भी मेरा होगा; (१४) इस शत्रु को मैंने मार लिया एवं औरों को भी मारूँगा; मैं ईश्वर, मैं (ही) भोग करनेवाला, मैं सिद्ध, बलाढय और सुखी हूँ,

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसम ाः।
प्रसक्ताः कामभोगषु पतन्ति नरके ुचौ ॥१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

(१५) मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान और है कौन? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा—इस प्रकार अज्ञान से मोहित, (१६) अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुए, मोह के फन्दे में फँसे हुए, और विषयोपभोग में आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं! (१७) आत्मप्रशंसा करनेवाले, ऐंठ से बर्तनेवाले, धन और मान के मद से संयुक्त ये (आसुरी) लोग दम्भ से, शास्त्र—विधि छोड़ कर

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

केवल नाम के लिये यज्ञ किया करते हैं। (१८) अहङ्कार से, बल से, दर्प से, काम से और क्रोध से फूल कर, अपनी और पराई देह में वर्तमान मेरा (परमेश्वर का) द्वेष करनेवाले, निन्दक, (१९) और अशुभ कर्म करनेवाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुरी अर्थात् पापयोनियों में ही सदैव पटकता रहता हूँ। (२०) हे कौन्तेय! (इस प्रकार) जन्म-जन्म में आसुरी योनि को ही पा कर, ये मूर्ख लोग मुझे बिना पाये ही अन्त में अत्यन्त अधोगति को जा पहुँचते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

(२१) काम, क्रोध और लोभ, ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं। ये हमारा नाश कर डालते हैं; इसलिये इन तीनों का त्याग करना चाहिये। (२२) हे कौन्तेय! इन तीनों तमोद्वारों से छूट कर, मनुष्य वही आचरण करने लगता है कि जिसमें उसका कल्याण हो; और फिर उत्तम गति पा जाता है।

(२३) जो शास्त्रोक्त विधि छोड़ कर मनमाना करने लगता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

है और न उत्तम गति ही मिलती है। (२४) इसलिये कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति का अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने के लिये तुझे शास्त्रों का प्रमाण मानना चाहिये। और शास्त्रों में जो कुछ कहा है, उसको समझ कर, तदनुसार इस लोक में कर्म करना तुझे उचित है।

[इस श्लोक के 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' पद से स्पष्ट होता है, कि कर्त्तव्यशास्त्र की अर्थात् नीतिशास्त्र की कल्पना को दृष्टि के आगे रख कर गीता का उपदेश किया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, दैवासुरसम्पद्विभाग योग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुवा।

सत्रहवाँ अध्याय।

[यहाँ तक इस बात का वर्णन हुआ, कि कर्मयोग-शास्त्र के अनुसार संसार का धारण-पोषण करनेवाले पुरुष किस प्रकार के होते हैं; और संसार का नाश करनेवाले मनुष्य किस ढँग के होते हैं। अब यह प्रश्न सहज ही होता है, कि मनुष्य-मनुष्य में इस प्रकार के भेद होते क्यों हैं। इस प्रश्न का उत्तर सातवें अध्याय के "प्रकृत्या नियताः स्वया" पद में दिया गया है; जिसका अर्थ यह है कि यह प्रत्येक मनुष्य का प्रकृति-स्वभाव है (७. २०)। परन्तु वहाँ सत्त्व-रज-तममय तीनों गुणों का विवेचन किया नहीं गया था; अतएव वहाँ इस प्रकृतिजन्य भेद की उपपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन भी न हो सका। यही कारण है जो चौदहवें अध्याय में त्रिगुणों का विवेचन किया गया है, और अब इस अध्याय में वर्णन किया गया है कि त्रिगुणों से उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा आदि के स्वभाव-भेद क्योंकर होते हैं; और फिर उसी अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का सम्पूर्ण निरूपण समाप्त किया गया है। इसी प्रकार नवें अध्याय में भक्तिमार्ग के जो अनेक भेद बतलाये गये हैं, उनका कारण भी इस अध्याय की उपपत्ति से समझ में आ जाता है (देखो ९. २३, २४)। पहले अर्जुन यों पूछता है कि—]

सप्तदशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१॥

श्रीभगवानुवाच।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥२॥

अर्जुन ने कहा—(१) हे कृष्ण! जो लोग श्रद्धा से युक्त होकर शास्त्र-निर्दिष्ट विधि को छोड़ करके यजन करते हैं, उनकी निष्ठा अर्थात् (मन की) स्थिति कैसी है—सात्त्विक है, या राजस है, या तामस? श्रीभगवान् ने कहा कि—(२) प्राणिमात्र की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है, एक सात्त्विक, दूसरी राजस, और तीसरी तामस; उनका वर्णन सुनो।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥३॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥४॥

(३) हे भारत! सब लोगों की श्रद्धा अपने अपने सत्त्व के अनुसार अर्थात् प्रकृतिस्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है, वह वैसा ही होता है।

[दूसरे श्लोक में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अन्तःकरण है। दूसरे श्लोक का 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोक का 'सत्त्व' शब्द यहाँ दोनों ही समानार्थक हैं।]

(४) जो पुरुष सात्त्विक हैं अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुण-प्रधान है वे देवताओं का यजन करते हैं; राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं एवं इनके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६॥

(५) परंतु जो लोग दम्भ और अहङ्कार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं (६) तथा जो न केवल शरीर के पञ्चमहाभूतों के समूह को ही, बरन् शरीर के अन्तर्गत रहनेवाले मुझको भी कष्ट देते हैं, उन्हें अविवेकी और आसुरी बुद्धि के जानो ।

[अपनी स्वाधीनता का उपयोग कर और शास्त्रानुसार आचरण करके प्रकृति-स्वभाव को धीरे-धीरे सुधारते जाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है । हाँ, जो ऐसा नहीं करते और दुष्ट प्रकृति-स्वभाव का ही अभिमान रख कर शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हैं, उन्हें आसुरी बुद्धि के कहना चाहिये । यही इन श्लोकों का भावार्थ है ।]

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

(७) प्रत्येक की रुचि का आहार भी तीन प्रकार का होता है । और यही हाल यज्ञ, तप एवं दान का भी है । सुनो, उनका भेद बतलाता हूँ । (८) आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि करनेवाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में भिद कर चिरकाल तक रहनेवाले और मन को आनन्ददायक आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं । (९) कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे रूखे, दाह-कारक तथा दुःख-शोक और रोग उपजानेवाले आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११॥
अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

(१०) कुछ काल का रखा हुआ अर्थात् ठण्डा, नीरस, दुर्गन्धित, बाँसी, जूँठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुष को रुचता है।

(११) फलाशा की आकांक्षा छोड़ कर अपना कर्त्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार, शान्त चित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है। (१२) परंतु हे भरतश्रेष्ठ! उसको राजस यज्ञ समझो कि जो फल की इच्छा से अथवा दम्भ के हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलाने के लिये किया जाता है।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

(१३) शास्त्र-विधि-रहित, अन्नदान-विहीन, बिना मन्त्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है।

(१४) देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं। (१५) (मन को) उद्वेग न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

को वाङ्मय (वाचिक) तप कहते हैं। (१६) मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इनको मानस तप कहते हैं।

(१७) इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रख कर उत्तम श्रद्धा से, तथा योगयुक्त बुद्धि से करे तो वे सात्त्विक कहलाते हैं। (१८) जो तप (अपने) सत्कार, मान या पूजा के लिये अथवा दम्भ से किया जाता है, वह चंचल और

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

अस्थिर तप शास्त्रों में राजस कहा जाता है। (१९) मूढ़ आग्रह से, स्वयं कष्ट उठा कर, अथवा (जारण-मारण आदि कर्मों के द्वारा) दूसरों को सताने के हेतु से किया हुआ तप तामस कहलाता है।

(२०) वह दान सात्त्विक कहलाता है कि जो कर्तव्यबुद्धि से किया जाता है, जो (योग्य) स्थल-काल और पात्र का विचार करके किया जाता है, एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाता है। (२१) परन्तु (किये हुए) उपकार के बदले

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

में, अथवा किसी फल की आशा रख, बड़ी कठिनाई से जो दान दिया जाता है वह राजस दान है (२१) अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में, अपात्र मनुष्य को, बिना सत्कार के, अथवा अवहेलनापूर्वक, जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है ।

[परब्रह्म के स्वरूप का मनुष्य को जो कुछ ज्ञान हुआ है वह सब " ॐ तत्सत् " इन तीन शब्दों के निर्देश में ग्रथित है । "तत् = वह" शब्द का अर्थ है सामान्य कर्म से परे का कर्म, अर्थात् निष्काम बुद्धि से फलाशा छोड़ कर किया हुआ सात्त्विक कर्म; और ' सत् ' का अर्थ वह कर्म है, कि जो यद्यपि फलाशासहित हो, तो भी शास्त्रानुसार किया गया हो और शुद्ध हो । इस अर्थ के अनुसार निष्काम बुद्धि से किये हुए सात्त्विक कर्म का ही नहीं, बरन् शास्त्रानुसार किये हुए सत् कर्म का भी परब्रह्मके सामान्य और सर्वमान्य सङ्कल्प में समावेश होता है; अतएव इन कर्मों को त्याज्य कहना अनुचित है ।]

।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥२५॥

(२३) (शास्त्र में) परब्रह्म का निर्देश "ॐ तत्सत्" यों तीन प्रकार से किया जाता है। उसी निर्देश से पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए हैं।

[इस श्लोक का यह भावार्थ है कि 'ॐ तत्सत्' सङ्कल्प ही सारी सृष्टि का मूल है।]

(२४) तस्मात्, अर्थात् जगत् का आरम्भ इस संकल्प से हुआ है इस कारण, ब्रह्मवादी लोगों के यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रोक्त कर्म सदा ॐ के उच्चार के साथ हुआ करते हैं। (२५) '**तत्**'

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

शब्द के उच्चारण से, फल की आशा न रख कर मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। (२६) अस्तित्व और साधुता अर्थात् भलाई के अर्थ में '**सत्**' शब्द का उपयोग किया जाता है। और हे पार्थ! इसी प्रकार प्रशस्त अर्थात् अच्छे कर्मों के लिए भी '**सत्**' शब्द प्रयुक्त होता है। (२७) यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखने को भी '**सत्**' कहते हैं; तथा इनके निमित्त जो कर्म करना हो, उस कर्म का नाम भी '**सत्**' ही है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(२८) अश्रद्धा से जो हवन किया हो, (दान) दिया हो, तप किया हो, या जो कुछ (कर्म) किया हो, वह 'असत्' कहा जाता है। हे पार्थ! वह (कर्म) न मरने पर (परलोक में) और न इस लोक में हितकारी होता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग— अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अठारहवाँ अध्याय।

[अठारहवाँ अध्याय पूरे गीताशास्त्र का उपसंहार है। अतः यहाँ तक जो विवेचन हुआ है उसका हम इस स्थान में संक्षेप से सिंहावलोकन करते हैं (अधिक विस्तार गीतारहस्य के १४ वें प्रकरण में देखिये)। **पहले** अध्याय से स्पष्ट होता है, कि स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए युद्ध को छोड़ भीक माँगने पर उतारू होनेवाले अर्जुन को अपने कर्तव्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है। अर्जुन को शंका थी कि गुरुहत्या आदि सदोष कर्म करने से आत्मकल्याण कभी न होगा। अतः एव आत्मज्ञानी पुरुषों के स्वीकृत किये हुए आयु बिताने के दो प्रकार के मार्गों का—सांख्य (संन्यास) मार्ग का और कर्मयोग (योग) मार्ग का—वर्णन **दूसरे** अध्याय के आरम्भ में ही किया गया है। और अन्त में यह सिद्धान्त किया गया है, कि यद्यपि ये दोनों ही मार्ग मोक्ष देते हैं, तथापि इनमें से कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है (गी. ५. २)। फिर **तीसरे** अध्याय से ले कर **पांचवें** अध्याय तक इन युक्तियों का वर्णन है कि, कर्मयोग में बुद्धि श्रेष्ठ समझी जाती है; बुद्धि के स्थिर और सम होने से कर्म की बाधा नहीं होती; कर्म किसी से भी नहीं छूटते तथा उन्हें छोड देना भी किसी को उचित नहीं, केवल फलाशा को त्याग

देना ही काफ़ी है; अपने लिये न सही तो भी लोकसंग्रह के हेतु कर्म करना आवश्यक है; बुद्धि अच्छी हो तो ज्ञान और कर्म के बीच विरोध नहीं होता; तथा पूर्वपरम्परा देखी जाय तो ज्ञात होगा, कि जनक आदि ने इसी मार्ग का आचरण किया है। अनन्तर इस बात का विवेचन किया है, कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये बुद्धि की जिस समता की आवश्यकता होती है, उसे कैसे प्राप्त करना चाहिये और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए अन्त में उसी के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है। बुद्धि की इस समता को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों का निग्रह करके पूर्णतया यह जान लेना आवश्यक है, कि एक ही परमेश्वर सब प्राणियों में भरा हुआ है-इसके अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है। अतः इन्द्रिय-निग्रह का विवेचन **छठवें** अध्याय में किया गया है। फिर सातवें अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक बतलाया गया है, कि कर्मयोग का आचरण करते हुए ही परमेश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, और वह ज्ञान क्या है। **सातवें** और **आठवें** अध्याय में क्षर-अक्षर अथवा व्यक्त-अव्यक्त के ज्ञान विज्ञान का विवरण किया गया है। **नवें** अध्यास से **बारहवें** अध्याय तक इस अभिप्राय का वर्णन किया गया है, कि यद्यपि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है, तो भी इस बुद्धि को न डिगने दे

कि परमेश्वर एक ही है, और व्यक्त स्वरूप की ही उपासना प्रत्यक्ष ज्ञान देनेवाली अतएव सब के लिये सुलभ है; अनन्तर **तेरहवें** अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है, कि क्षर-अक्षर के विवेक में जिसे अव्यक्त कहते हैं, वही मनुष्य के शरीर में अन्तरात्मा है। इसके पश्चात् **चौदहवें** अध्याय से ले कर **सत्रहवें** अध्याय तक, चार अध्यायों में, क्षर-अक्षर-विज्ञान के अन्तर्गत इस विषय का विस्तारसहित विचार किया गया है, कि एक ही अव्यक्त से प्रकृति के गुणों के कारण जगत् में विविध स्वभावों के मनुष्य कैसे उपजते हैं अथवा और अनेक प्रकार का विस्तार कैसे होता है एवं ज्ञान-विज्ञान का निरूपण समाप्त किया गया है। तथापि स्थान स्थान पर अर्जुन को यही उपदेश है, कि तू कर्म कर; और यही कर्मयोग-प्रधान आयु बिताने का मार्ग सब में उत्तम माना गया है, कि जिसमें शुद्ध अंतःकरण से परमेश्वर की भक्ति करके 'परमेश्वरार्पण-पूर्वक स्वधर्म के अनुसार केवल कर्त्तव्य समझ कर मरण पर्यन्त कर्म करते रहने' का उपदेश है। इस प्रकार ज्ञान-मूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर चुकने पर **अठारहवें** अध्याय में उसी धर्म का उपसंहार करके अर्जुन को स्वेच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त किया है। गीता के इस मार्ग में--कि जो गीता में सर्वोत्तम कहा गया गया है— अर्जुन से यह नहीं कहा गया कि 'तू चतुर्थ आश्रम को स्वीकार

अष्टादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

करके संन्यासी हो जा'। हाँ, यह अवश्य कहा है कि, इस मार्ग से आचरण करनेवाला मनुष्य 'नित्य संन्यासी' है (गी. ५.३)। अतएव अब अर्जुन का प्रश्न है कि चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास ले कर किसी समय सब कर्मों को सचमुच त्याग देने का तत्त्व इस कर्मयोग-मार्ग में है या नहीं; और नहीं है तो, 'संन्यास' एवं 'त्याग' शब्दों का अर्थ क्या है? देखो गीतारहस्य पृ. ३४६-३४९।]

अर्जुन ने कहा—(१) हे महाबाहु, हृषीकेश! मैं संन्यास का तत्त्व, और हे केशिदैत्य-निषूदन! त्याग का तत्त्व पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ। श्रीभगवान् ने कहा—(२) (जितने) काम्य कर्म हैं,

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

उनके न्यास अर्थात् छोड़ने को ज्ञानी लोग संन्यास समझते हैं (तथा) समस्त कर्मों के फलों के त्याग को पण्डित लोग त्याग कहते हैं।

[इस श्लोक में स्पष्टतया बतला दिया है, कि कर्मयोग-मार्ग में संन्यास और त्याग किसे कहते हैं। सब कर्मों को न छोड़ने पर भी कर्मयोगमार्ग में ' संन्यास ' और ' त्याग ' दोनों तत्त्व बने रहते हैं। अर्जुन को यही बात समझा देने के लिये इस श्लोक में संन्यास और त्याग दोनों की व्याख्या यों की गई है कि ' संन्यास ' का अर्थ ' काम्य कर्मों को सर्वथा छोड़ देना ' है और ' त्याग ' का यह मतलब है कि ' जो कर्म करना हो, उनकी फलाशा न रखे '। पीछे जब यह प्रतिपादन हो रहा था कि संन्यास (अथवा सांख्य) और योग दोनों तत्त्वतः एक ही हैं तब ' संन्यासी ' शब्द का अर्थ (गी. ५. ३-६ और ६. १, २ देखो) तथा इसी अध्याय में आगे ' त्यागी ' शब्द का अर्थ भी (गी. १८. ११) इसी भाँति किया गया है और इस स्थान में वही अर्थ इष्ट है।]

(३) कुछ पंडितों का कथन है, कि कर्म दोषयुक्त

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

है अतएव उसका (सर्वथा) त्याग करना चाहिये; तथा दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप और कर्म को कभी न छोड़ना चाहिये। (४) अतएव हे भरतश्रेष्ठ! त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। (५) यज्ञ, दान, तप और कर्म का त्याग न करना चाहिये; इन (कर्मों) को करना ही चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों के लिये (भी) पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक हैं। (६) अतएव इन (यज्ञ, दान आदि) कर्मों को भी बिना आसक्ति रखे, फलों का त्याग करके (अन्य

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८॥

निष्काम कर्मों के समान ही लोकसंग्रह के हेतु) करते रहना चाहिये। हे पार्थ! इस प्रकार मेरा निश्चित मत (है, तथा वही) उत्तम है।

[कर्म का दोष अर्थात् बन्धकता कर्म में नहीं, फलाशा में है। इसलिये पहले अनेक बार जो कर्मयोग का यह तत्त्व कहा गया है, कि सभी कर्मों को फलाशा छोड़ कर निष्कामबुद्धि से करना चाहिये उसका यह उपसंहार है। मूल श्लोक में जो "एता-न्यपि=ये भी" शब्द हैं उनका अर्थ यही है कि 'अन्य निष्काम कर्मों के समान यज्ञ, दान आदि कर्म करना चाहिये।"]

(७) जो कर्म (स्वधर्म के अनुसार) नियत अर्थात् स्थिर कर दिये गये हैं, उनका संन्यास यानी त्याग करना (किसी को भी) उचित नहीं है। उनका मोह से किया त्याग तामस कहलाता है। (८) शरीर को कष्ट होने के डर से अर्थात् दुःखकारक होने के कारण

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

ही यदि कोई कर्म छोड़ दें तो उसका वह त्याग राजस हो जाता है, (तथा) त्याग का फल उसे नहीं मिलता। (९) हे अर्जुन! (स्वधर्मानुसार) नियत कर्म जब कार्य अथवा कर्तव्य समझ कर और आसक्ति एवं फल को छोड़ कर किया जाता है, तब वह सात्त्विक त्याग समझा जाता है।

[सातवें श्लोक के 'नियत' शब्द का अर्थ कुछ लोग नित्य-नैमित्तिक आदि भेदों में से 'नित्य' कर्म समझते हैं; किन्तु वह ठीक नहीं है। 'नियतं कुरु कर्म त्वं' (गी. ३. ८) पद में 'नियत' शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ यहाँ पर भी करना चाहिये।]

(१०) जो किसी अकुशल अर्थात् अकल्याण-कारक कर्म का द्वेष नहीं करता, तथा कल्याण-कारक अथवा

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥१२

हितकारी कर्म में अनुपक्त नहीं होता, उसे सत्त्वशील, बुद्धिमान् और संदेह-विरहित त्यागी अर्थात् संन्यासी कहना चाहिये। (११) जो देहधारी है, उसके कर्मों का निःशेष त्याग होना सम्भव नहीं है; अतएव जिसने (कर्म न छोड़ कर) केवल कर्मफलों का त्याग किया हो, वही (सच्चा) त्यागी अर्थात् संन्यासी है।

(१२) मृत्यु के अनन्तर अत्यागी मनुष्य को अर्थात् फलाशा का त्याग न करनेवाले को तीन प्रकार के फल मिलते हैं; अनिष्ट, इष्ट और (कुछ इष्ट और कुछ अनिष्ट मिला हुआ) मिश्र। परन्तु संन्यासी को अर्थात् फलाशा छोड़ कर कर्म करनेवाले को (ये फल) नहीं मिलते, अर्थात् बाधा नहीं कर सकते।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥१५॥

[त्याग, त्यागी और संन्यासी-सम्बन्धी उक्त विचार पहले (गी. ३. ४–७; ५ २–१०; ६. १) कई स्थानों में आ चुके हैं, उन्हीं का यहाँ उपसंहार किया गया है । समस्त कर्मों का संन्यास गीता को भी इष्ट नहीं है ।]

(१३) हे महाबाहु ! कोई भी कर्म होने के लिये सांख्यों के सिद्धान्त में पाँच कारण कहे गये हैं; उन्हें मैं बतलाता हूँ, सुन । (१४) अधिष्ठान (स्थान), तथा कर्ता, भिन्न-भिन्न करण यानी साधन, (कर्त्ता की) अनेक प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएँ अर्थात् व्यापार, और उसके साथ ही साथ पाँचवाँ (कारण) दैव है । (१५) शरीर से, वाणी से, अथवा मन से मनुष्य

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबद्ध्यते॥१७॥

जो जो कर्म करता है—फिर चाहे वह न्याय्य हो या विपरीत अर्थात् अन्याय्य—उसके उक्त पाँच कारण हैं।

(१६) वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे, कि मैं ही अकेला कर्ता हूँ (समझना चाहिये कि), वह दुर्मति कुछ भी नहीं जानता। (१७) जिसे यह भावना ही नहीं है कि 'मैं कर्त्ता हूँ,' तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह यदि इन लोगों को मार डाले तथापि (समझना चाहिये कि) उसने किसी को नहीं मारा और यह(कर्म) उसे बन्धक भी नहीं होता।

[हमारा यह मत है, की 'सांख्य' शब्द से इस स्थान में कापिल सांख्यशास्त्र ही अभिप्रेत है। चौदहवें श्लोक का अर्थ यह है, कि

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

मनुष्य इस जगत् में हो या न हो, प्रकृति के स्वभाव के अनुसार जगत् का अखण्डित व्यापार चलता ही रहता है, और जिस कर्म को मनुष्य अपनी करतूत समझता है, वह केवल उसी के यत्न का फल नहीं है, वरन् उसके यत्न और संसार के अन्य व्यापारों अथवा चेष्टाओं की सहायता का परिणाम है। मनुष्य के प्रयत्न की सिद्धि होने के लिये जगत् के जिन विविध व्यापारों की सहायता आवश्यक है, उनमें से कुछ व्यापारों को जान कर, उनकी अनुकूलता पा कर ही मनुष्य यत्न किया करता है। परन्तु हमारे प्रयत्न के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सृष्टि के और भी कई व्यापार हैं कि जिनका हमें ज्ञान नहीं है। इसी को दैव कहते हैं, और कर्म की घटना का यह पांचवाँ कारण कहा गया है।]

(१८) कर्मचोदना तीन प्रकार की है—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता; तथा कर्मसंग्रह तीन प्रकार का है—करण, कर्म और कर्त्ता। (१९) गुणसंख्यानशास्त्र में

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

अर्थात् कापिलसांख्यशास्त्र में कहा है, कि ज्ञान, कर्म और कर्त्ता (प्रत्येक सत्त्व, रज और तम, इन तीन) गुणों के भेदों से तीन प्रकार के हैं। उन (प्रकारों) को ज्यों के त्यों (तुझे बतलाता हूँ) सुन।

[कर्मचोदना और कर्मसंग्रह पारिभाषिक शब्द हैं। इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म होने के पूर्व, मन से उसका निश्चय करना पड़ता है। अतएव इस मानसिक विचार को 'कर्मचोदना' अर्थात् कर्म करने की प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं। कर्मचोदना शब्द से मानसिक अथवा अन्तःकरण की क्रिया का बोध होता है और कर्मसंग्रह शब्द से उसी मानसिक क्रिया की जोड़ की बाह्यक्रियाओं का बोध होता है। किसी भी कर्म का पूर्ण विचार करना हो, तो 'चोदना' और 'संग्रह' दोनों का विचार करना चाहिये।]

(२०) जिस ज्ञान से यह मालूम होता है, कि विभक्त अर्थात् भिन्न भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है उसे सात्त्विक

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥
नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥२३॥

ज्ञान जानो। (२१) जिस ज्ञान से पृथक्त्व का बोध होता है, कि समस्त प्राणिमात्र में भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक भाव हैं, उसे राजस ज्ञान समझो। (२२) परन्तु जो निष्कारण और तत्त्वार्थ को बिना जाने बूझे एक ही बात में यह समझ कर आसक्त रहता है, कि यही सब कुछ है, वह अल्प ज्ञान तामस कहा गया है।

[भिन्न भिन्न ज्ञानों के लक्षण बहुत व्यापक हैं। 'विभक्त में अविभक्त' अथवा 'अनेकता में एकता' को पहचानना ही ज्ञान का सच्चा लक्षण है। 'ज्ञान' शब्द से (१) एकीकरण की मानसिक क्रिया की पूर्णता, तथा (२) उस पूर्णता का देह–स्वभाव पर होनेवाला परिणाम—ये दोनों अर्थ गीता में विवक्षित हैं।]

(२३) फल-प्राप्ति की इच्छा न करनेवाला मनुष्य

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

(मन में) न तो प्रेम और न द्वेष रख कर, बिना आसक्ति के (स्वधर्मानुसार) जो नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म करता है, उस (कर्म) को सात्त्विक कहते हैं। (२४) परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखनेवाला अथवा अहङ्कार-बुद्धि का (मनुष्य) बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है, उसे राजस कहते हैं। (२५) तामस कर्म वह है कि जो मोह से, बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है, कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष यानी अपना सामर्थ्य कितना है और (होनहार में) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं।

[इन तीन भाँति के कर्मों में सभी प्रकार के कर्मों का समावेश हो जाता है।]

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते२६
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

(२६) जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं' और 'मेरा' नहीं कहता, कार्य की सिद्धि हो या न हो (दोनों परिणामों के समय) जो (मन से) विकार-रहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है, उसे सात्त्विक (कर्त्ता) कहते हैं। (२७) विषयासक्त, लोभी, (सिद्धि के समय) हर्ष और (असिद्धि के समय) शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखनेवाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्त्ता राजस कहलाता है। (२८) अयुक्त अर्थात् चञ्चल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलनेवाला, ठग नैष्कृतिक यानी दूसरों की

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ३०

हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् देरी लगानेवाला या घड़ी भर के काम को महीने भर में करनेवाला कर्त्ता तामस कहलाता है ।

[२८ वें श्लोक में नैष्कृतिक (निस्+कृत्=छेदन करना, काटना) शब्द का अर्थ दूसरों के काम छेदन करनेवाला अथवा नाश करनेवाला है । परंतु इसके बदले कई लोग 'नैकृतिक' पाठ मानते हैं । अमरकोश में 'निकृत' का अर्थ शठ लिखा हुआ है। परन्तु इस श्लोक में शठ विशेषण पहले आ चुका है, इसलिये हमने नैष्कृतिक पाठ को स्वीकार किया है ।]

(२९) हे धनञ्जय ! बुद्धि और धृति के भी गुणों के अनुसार जो तीन प्रकार के भिन्न भिन्न भेद होते हैं, इन सब को तुझसे कहता हूँ; सुन । (३०) हे पार्थ जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् किसी

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

कर्म के करने) और निवृत्ति (अर्थात् न करने) को जानती है, एवं यह जानती है कि कार्य अर्थात् करने के योग्य क्या है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य क्या है, किससे डरना चाहिये और किससे नहीं, किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष, वह बुद्धि सात्त्विक है। (३१) हे पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है, कि जिससे धर्म और अधर्म का अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय नहीं होता। (३२) हे पार्थ ! वह बुद्धि तामसी है, कि जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सब बातों में विपरीत यानी उलटी समझ कर देती है ।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेंद्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३३
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

(३३) हे पार्थ जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर उधर न डिगनेवाली धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार, (कर्मफल-त्यागरूपी) योग के द्वारा (पुरुष) करता है, वह धृति सात्त्विक है। (३४) हे अर्जुन! प्रसङ्गानुसार फल की इच्छा रखनेवाला पुरुष जिस धृति से अपने धर्म, काम और अर्थ (पुरुषार्थ) को सिद्ध कर लेता है, वह धृति राजस है। (३५) हे पार्थ! जिस धृति से मनुष्य दुर्बुद्धि होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद नहीं छोड़ता, वह धृति तामस है।

['धृति' शब्द का अर्थ धैर्य है; परन्तु यहाँ पर शारीरिक

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

धैर्य से अभिप्राय नहीं है । इस प्रकरण में धृति शब्द का अर्थ मन का दृढ निश्चय है । परन्तु इतना ही कह देने से सात्त्विक धृति का लक्षण पूर्ण नहीं हो जाता, कि अव्यभिचारी अर्थात् इधर उधर विचलित न होनेवाले धैर्य के बल पर मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार करना चाहिये । बल्कि यह भी बतलाना चाहिये, कि ये व्यापार किस वस्तु पर होते हैं अथवा इन व्यापारों का कर्म क्या है । वह 'कर्म-योग' शब्द से सूचित किया गया है । इसी लिये हमने इस शब्द का अर्थ, पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार, कर्मफलत्याग रूपी योग किया है ।]

(३६) अब हे भरतश्रेष्ठ ! मैं सुख के भी तीन भेद बतलाता हूँ; सुन । अभ्यास से अर्थात् निरन्तर परिचय से (मनुष्य) जिसमें रम जाता है और जहाँ दुःख का अन्त होता है, (३७) जो आरम्भ में (तो) विष के समान जान पड़ता है, परन्तु परिणाम में

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अमृत के तुल्य है, जो आत्मनिष्ठ-बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है, उस (आध्यात्मिक) सुख को सात्त्विक कहते हैं। (३८) इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होनेवाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है, कि जो पहले तो अमृत के समान है पर अन्त में विष सा रहता है। (३९) और जो आरम्भ में एवं अनुबन्ध अर्थात् परिणाम में भी मनुष्य को मोह में फँसाता है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य की भूल से उपजता है उसे तामस सुख कहते हैं।

[३७ वें श्लोक में आत्मबुद्धि का अर्थ हमने 'आत्मनिष्ठ बुद्धि' किया है। परन्तु जब विचार करते हैं, कि बुद्धि को सच्चा और

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

अत्यन्त सुख प्राप्त होने के लिये क्या करना पड़ता है, तब गीता के छठे अध्याय से (६. २१, २२) प्रगट होता है, कि यह परमावधि का सुख आत्मनिष्ठ बुद्धि हुए बिना प्राप्त नहीं होता।]

(४०) इस पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवताओं में अर्थात् देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं, कि जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

[अठारहवें श्लोक से यहाँ तक ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि, धृति और सुख के भेद बतला कर अर्जुन को आँखों के सामने इस बात का एक चित्र रख दिया है, कि सम्पूर्ण जगत् में प्रकृति के गुण-भेद से विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है; तथा फिर यह प्रतिपादन किया है, कि इन सब भेदों में सात्त्विक भेद श्रेष्ठ और ग्राह्य है। इन सात्त्विक भेदों में भी जो सब से श्रेष्ठ स्थिति है उसी को गीता में त्रिगुणातीत अवस्था कहा है।]

(४१) हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३ ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य अर्थात् प्रकृति-सिद्ध गुणों के अनुसार पृथक् पृथक् बँटे हुए हैं। (४२) ब्राह्मण का स्वभावजन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानी विविध ज्ञान और आस्तिक्यबुद्धि है। (४३) शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर) हुकमत करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। (४४) कृषि अर्थात् खेती, गोरक्षा यानी पशुओं को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥४६॥

और, इसी प्रकार, सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

(४५) अपने अपने (स्वभावजन्य गुणों के अनुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों में नित्य रत (रहनेवाला) पुरुष (उसीसे) परम सिद्धि पाता है। सुनो, अपने कर्मों में तत्पर रहने से सिद्धि कैसे मिलती है। (४६) प्राणिमात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है, और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिससे सब जगत् व्याप्त है, उसका अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा फूलों से ही नहीं) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥
सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

(४७) यद्यपि परधर्म का आचरण सहज हो, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म, विगुण यानी सदोष होने पर भी अधिक कल्याणकारक है। स्वभावसिद्ध अर्थात् गुण-स्वभावानुसार निर्मित की हुई चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करने में कोई पाप नहीं लगता।(४८) हे कौन्तेय! जो कर्म सहज है,अर्थात् जन्म से ही गुण-कर्म-विभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो तो भी उसे (कभी) न छोडना चाहिये। क्योंकि, संपूर्ण आरंभ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं, जैसे कि धुएँ से आग घिरी रहती है। (४९) अतएव

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१

कहीं भी आसक्ति न रख कर, मनको वश में करके निष्काम बुद्धि से चलने पर (कर्म-फल के) संन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त हो जाती है।

[इस उपसंहारात्मक अध्याय में पहले बतलाये हुए उन्हीं विचारों को अब फिर से व्यक्त कर दिखलाया है कि पराये धर्म की अपेक्षा स्वधर्म भला है (गी.३.३५) और नैष्कर्म्य सिद्धि पाने के लिये कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं है (गी.३.४) इत्यादि।]

(५०) हे कौन्तेय! (इस प्रकार) सिद्धि प्राप्त होने पर (उस पुरुष को) ज्ञान की परम निष्ठा—ब्रह्म–जिस रीति प्राप्त होती है, उसका मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ; सुन। (५१) शुद्ध बुद्धि से युक्त हो करके, धैर्य से आत्म-

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेष मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

संयमन कर, शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को छोड़ करके और प्रीति एवं द्वेष को दूर कर (५२) 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थल में रहनेवाला, मिताहारी, काया-वाचा और मन को वश में रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त, (५३) (तथा) अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध आर परिग्रह अर्थात् पाश को छोड कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिये समर्थ होता है। (५४) ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्न-चित्त होकर वह न तो किसी की आकांक्षा ही करता है, और न किसी का द्वेष ही; तथा समस्त

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

प्राणिमात्र में सम हो कर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है । (५५) भक्ति से उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ; इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जाने पर वह मुझमें ही प्रवेश करता है; (५६) और मेरा ही आश्रय कर, सब कर्म करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है ।

[ध्यान रहे कि सिद्धावस्था का उक्त वर्णन कर्मयोगियों का है—कर्मसंन्यास करनेवाले पुरुषों का नहीं है । आरम्भ में ही ४५वें और ४९ वें श्लोक में कहा है, कि उक्त वर्णन आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवालों का है, तथा अन्त के ५६ वें श्लोक में "सब कर्म करते रहने पर भी" शब्द आये हैं । उक्त वर्णन

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

भक्तों के अथवा त्रिगुणातीतों के वर्णन के ही समान है; यहाँ तक कि, कुछ शब्द भी उसी वर्णन से लिये गये हैं ।]

(५७) मन से सब कर्मों को मुझमें 'संन्यस्य' अर्थात् समर्पित करके मत्परायण होता हुआ (साम्य-) बुद्धियोग के आश्रय से हमेशा मुझमें चित्त रख ।

[बुद्धियोग शब्द दूसरे ही अध्याय (२.४९) में आ चुका है । दूसरे अध्याय में जो यह कहा था, कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, उसी सिद्धान्त का यह उपसंहार है ।]

(५८) मुझमें चित्त रखने पर तू मेरे अनुग्रह से सारे सङ्कटों को अर्थात् कर्म के शुभाशुभ फलों को पार कर जावेगा । परंतु यदि अहङ्कार के वश हो मेरी न सुनेगा तो (अलबत) नाश पावेगा ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥
स्वभावजन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥

(५९) तू अहङ्कार से जो यह मानता (कहता) है, कि मैं युद्ध न करूँगा, (सो) तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझसे वह (युद्ध) करावेगा। (६०) हे कौन्तेय! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण, मोह के वश होकर तू जिसे न करने की इच्छा करता है, पराधीन (अर्थात् प्रकृति के अधीन) हो करके तुझे वही करना पडेगा। (६१) हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रह कर (अपनी) माया से प्राणिमात्र को (ऐसे) घुमा रहा है मानो सभी

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

(किसी) यन्त्र पर चढाये गये हों। (६२) इसलिये हे भारत! तू सर्व भाव से उसी की शरण में जा। उसके अनुग्रह से तुझे परम शान्ति और नित्यस्थान प्राप्त होगा। (६३) इस प्रकार मैंने यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान तुझसे कहा है। इसका पूर्ण विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर।

[इन श्लोकों में कर्म-पराधीनता का जो गूढ तत्त्व बतलाया गया है, उसका विचार गीतारहस्य के १० वें प्रकरण में विस्तार-पूर्वक हो चुका है। ६३ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है सही कि " जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर, " परन्तु उसका अर्थ बहुत गम्भीर है। ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा जहाँ बुद्धि साम्यावस्था में पहुँची, वहाँ फिर बुरी इच्छा बचने ही नहीं पाती। अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुष का इच्छा-स्वातन्त्र्य ' (इच्छा की स्वाधीनता) उसे

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

अथवा जगत् को कभी अहितकारक नहीं हो सकता । इसलिये उक्त श्लोक का ठीक ठीक भावार्थ यह है कि "ज्यों ही तू इस ज्ञान को समझ लेगा (विमृश्य), त्यों ही तू स्वयंप्रकाश हो जावेगा; और फिर (पहले से नहीं) तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा, वही धर्म्य एवं प्रमाण होगा; तथा स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता ही न रहेगी।"]

(६४) (अब) अन्त की एक बात और सुन कि जो सब से गुह्य है । तू मुझे अत्यन्त प्यारा है, इसलिये मैं तेरे हित की बात कहता हूँ । (६५) मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर और मेरी वन्दना कर, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि (इससे) तू मुझमें ही आ मिलेगा; (क्योंकि) तू मेरा

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

प्यारा (भक्त) है । (६६) सब धर्मों को छोड़ कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा । मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा, डर मत ।

[यहाँ पर धर्म शब्द से परमेश्वर-प्राप्ति के लिये शास्त्रों में जो अनेक मार्ग बतलाये गये हैं,—जैसे अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, मातृ-पितृ-सेवा-धर्म, गुरु-सेवा-धर्म, यज्ञ-याग-धर्म, दान-धर्म, संन्यास-धर्म आदि वही अभिप्रेत हैं । परंतु इस स्थान पर गीता के प्रतिपाद्य धर्म के अनुरोध से भगवान् का यह निश्चयात्मक उपदेश है, कि उक्त नाना धर्मों की गड़बड़ में न पड़ कर "मुझ अकेले को ही भज, मैं तेरा उद्धार कर दूँगा, डर मत" ।]

(६७) जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और सुनने की इच्छा नहीं रखता, तथा जो मेरी निन्दा करता हो, उसे यह (गुह्य) कभी मत बतलाना ।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

(६८) जो यह परम गुह्य मेरे भक्तों को बतलावेगा, उसकी मुझ पर परम भक्ति होगी और वह निस्सन्देह मुझमें ही आ मिलेगा। (६९) उसकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय करनेवाला सम्पूर्ण मनुष्यों में दूसरा कोई भी न मिलेगा तथा इस भूमि में मुझे उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय और कोई न होगा।

(७०) हम दोनों के इस धर्मसंवाद का जो कोई अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि उसने ज्ञानयज्ञ से मेरी

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

पूजा की। (७१) इसी प्रकार दोष न ढूँढ़ कर श्रद्धा के साथ जो कोई इसे सुनेगा, वह भी (पापों से) मुक्त होकर उन शुभ लोकों में जा पहुँचेगा कि जो पुण्यवान् लोगों को मिलते हैं।

(७२) हे पार्थ! तुमने इसे एकाग्र मन से सुन तो लिया है न? (और) हे धनञ्जय! तुम्हारा अज्ञान-रूपी मोह अब सर्वथा नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन ने कहा—(७३) हे अच्युत! तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया; और मुझे (कर्तव्य-धर्म की) स्मृति

संजय उवाच।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

हो गई। मैं (अब) निःसन्देह हो गया हूँ। आपके उपदेशानुसार (युद्ध) करूँगा।

[यदि विचार किया जायँ, कि अर्जुन को किस बात की विस्मृति हो गई थी, तो पता लगेगा कि दूसरे अध्याय (२. ७) में उसने कहा है कि " अपना धर्म अथवा कर्त्तव्य समझने में मेरा मन असमर्थ हो गया है " (धर्मसंमूढचेताः)। अतः उक्त श्लोक का सरल अर्थ यही है, कि उसी (भूले हुए) कर्त्तव्य-धर्म की अब उसे स्मृति हो आई है। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है और स्थान स्थान पर ये शब्द कहे गये हैं कि " इसलिये तू युद्ध कर " (गी. २. १८; २. ३७; ३ ३०; ८. ७; ११. ३४); अतएव इस " आपके आज्ञानुसार करूँगा " पद का अर्थ 'युद्ध करता हूँ' ही होता है।]

सञ्जय ने कहा—(७४) इस प्रकार शरीर को रोमाञ्चित करनेवाला वासुदेव और महात्मा अर्जुन का

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥७५॥

यह अद्भुत संवाद मैंने सुना । (७५) व्यासजी के अनुग्रह से मैंने यह परम गुह्य, यानी योग अर्थात् कर्मयोग, साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण ही के मुख से सुना है ।

[योगेश्वर शब्द में 'योग' शब्द का अर्थ व्यापक है । योग का साधारण अर्थ कर्म करने की युक्ति, कुशलता या शैली है । जिस युक्ति से परमेश्वर मूल में अव्यक्त होने पर भी वह अपने आप को व्यक्त स्वरूप देता है, वही युक्ति अथवा योग सब में श्रेष्ठ है । गीता में इसी को 'ईश्वरी योग' (गी. ९. ५; ११. ८) कहा है; और वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, वह भी वही है (गी. ७. २५)। परमेश्वर इन योगों का अथवा माया का अधिपति है; अतएव उसे योगेश्वर अर्थात् योगों का स्वामी कहते हैं । 'योगेश्वर' शब्द में योग का अर्थ पातञ्जल-योग नहीं है ।]

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः७७
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टोदशोऽध्यायः ॥१८॥

(७६) हे राजा (धृतराष्ट्र) ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत एवं पुण्यकारक संवाद का स्मरण होकर मुझे बार बार हर्ष हो रहा है; (७७) और हे राजा ! श्रीहरी के उस अत्यंत अद्भुत विश्वरूप की भी बार बार स्मृति होकर मुझे बड़ा विस्मय होता है और बार बार हर्ष होता है । (७८) मेरा मत है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है वहीं श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति हैं ।

[सिद्धांत का सार यह है, कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती हैं, वहाँ निश्चय ही ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं; कोरी शक्ति से अथवा केवल युक्ति से काम नहीं चलता। केवल नीति बतलानेवाले को आधा चतुर समझना चाहिये। अर्थात् योगेश्वर यानी योग या युक्ति के ईश्वर और धनुर्धर अर्थात् योद्धा, ये दोनों विशेषण इस श्लोक में हेतुपूर्वक किये गये हैं।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, मोक्ष-संन्यास-योग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[स्वधर्म को न छोड़ कर, उसे परमेश्वर में मन से संन्यास अर्थात् समर्पित कर देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है; अतएव इस अध्याय का मोक्षसंन्यास-योग नाम रखा गया है।]

॥ ॐतत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ शांतिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु ॥

गीता के श्लोकों की सूची ।